तुलनात्मक समाजशास्त्र पर निबन्ध

मूल :
आन्द्रे बेतेइ

अनुवाद :
पुष्पेश पंत

दिल्ली
ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
बम्बई कलकत्ता मद्रास
1984

पिताजी को

क्रम

प्रस्तावना

सितम्बर 1972 में मुझे समाजशास्त्र में राष्ट्रीय व्याख्यान (1972–73) देने के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा आमंत्रित किया गया था। यह पुस्तक उसी आमंत्रण का प्रतिफल है।

मेरी आरंभिक योजना तीन व्याख्यान लिखने की तथा उन्हे तीन विश्वविद्यालयों में पढ़ने की थी। तीसरा व्याख्यान लिख लेने पर (जनवरी 1973 मे) मैंने महसूस किया कि तीन व्याख्यान और लिखे जाने चाहिए ताकि प्रथम तीन के संबंधों को स्पष्ट रूप से उद्घाटित किया जा सके और समूचे कार्य को समकालीन भारत मे समाजशास्त्र के सरोकारों से जोड़ा जा सके। पुस्तक के प्रथम तीन लेख चंडीगढ़, अलीगढ़ और लखनऊ में व्याख्यानो के रूप मे पढ़े जा चुके है, चौथे और पाँचवें लेख को वस्तुतः कहीं भी व्याख्यान के रूप मे नहीं पढ़ा गया। छठा लेख उस व्याख्यान पर आधारित है जो मैंने समय-समय पर दिल्ली विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में छात्रों को दिया है।

पहला लेख पीछे की ओर दृष्टि डालता है जबकि अंतिम, मेरे विचार से, आगे की ओर देखता है। मुझे संदेह है कि आने वाले वर्षों मे भारत मे समाजशास्त्र के चिंतनशील अध्येता, सिवाय इसे *अकादमिक व्यवस्था* और अकादमिक राजनीति की एक समस्या के रूप मे लेने के, समाजशास्त्र और *सामाजिक नृविज्ञान* के विभेद के बारे मे कोई विशेष चिंता करेंगे। लेकिन मै विश्वास करता हूँ कि भारतीय समाजशास्त्री मार्क्सवादियों, जो स्वयं, भले ही थोड़ा भिन्न दृष्टिकोण लिये सही, समाज के अध्येता हैं, के साथ उत्तरोत्तर नज़दीकी कायम करते जाएँगे। अब तक उन्होंने एक-दूसरे के प्रति सौतेले भाइयों का सा व्यवहार किया है। प्रत्येक ने, कम से कम जनता के सामने, दूसरे के अस्तित्व से कमोवेश अनभिज्ञ रहने का दिखावा किया है। मैं समझता हूँ कि मार्क्सवाद और अकादमिक समाजशास्त्र मे कुछ मूलभूत भिन्नताएँ हैं जिन्हें सुलझाना बहुत कठिन है, परंतु दोनों मे काफी कुछ समान आधार भी है। समाजशास्त्र में प्रतिवाद का कोई सिद्धांत नहीं, इसलिए समाजशास्त्रियों को मार्क्सवाद के सम्मुख विगोपित होने पर अपना विश्वास खो देने के भय की आवश्यकता नहीं।

तुलनात्मक समाजशास्त्र में यह मेरा दूसरा प्रयास है, पहला प्रयास सामाजिक असमानता पर कुछ लेखों का एक संकलन था जिसका मैंने पेंगुइन बुक्स के लिए संपादन किया था। भारतीय समाजशास्त्री तुलनात्मक समाजशास्त्र में कार्य करने में ज्यादातर हिचकिचाते रहे हैं, लेकिन उन्होंने अंतर-सास्कृतिक अध्ययनो में रुचि रखने वालो को मौलिक सामग्री अवश्य प्रदान की है।

भारतीयों ने अपने को मुख्यतः अपने समाज के अध्ययन तक ही सीमित रखा, इसके विशेष कारण है। अन्य समाजो और संस्कृतियों के अध्ययन के लिए अमरीकी और योरोपीय अध्येताओ की बनिस्वत उनके पास बहुत कम साधन थे। फिर भी मैं विश्वास करता हूँ कि अपने मनोमस्तिष्क मे भारत को केंद्र मे रखकर तुलनात्मक समाजशास्त्र के ढांचे मे कार्य करना भारतीयो के लिए न केवल संभव होगा, अपितु फलप्रद भी। तुलनात्मक समाजशास्त्र में अपना योगदान देते समय भारतीयो को चीन, पाकिस्तान और बाग्लादेश जैसे अपने पड़ोसी देशो की ओर उत्तरोत्तर देखते रहना होगा।

इन लेखों को तैयार करने मे दी गई प्रेरणा के लिए मैं अनेक महानुभावों का आभारी हूँ—और विशेषकर जीत ओबराय का जिनसे मैंने अपने निकट और किंचित विवादग्रस्त साहचर्य के दौरान बहुत कुछ सीखा। मुझे उन तीनो विश्वविद्यालयों मे जहाँ मै व्याख्यान देने के लिए गया था अत्यधिक प्रेम एवं सौहार्दपूर्ण व्यवहार मिला। मैं पंजाब विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग के प्रोफेसर वी० एस० डिसूजा, उनके सहयोगियो एवं छात्रों का, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग के प्रोफेसर आर० एन० सक्सेना, उनके सहयोगियों एव छात्रो का और लखनऊ विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग के डा० के० एस० माथुर, उनके सहयोगियों एवं छात्रो का विशेष आभारी हूँ।

अत मे मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ कि आयोग ने राष्ट्रीय व्याख्यानो की प्रथम सीरीज के व्याख्यान देने के लिए मुझे आमत्रण दिया—एक अपात्र सम्मान जिसे मै कृतज्ञतापूर्वक अभिस्वीकार करता हूँ।

1

समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र

समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र के मध्य संबधों के पिछले कुछ दशको के स्वरूप का परीक्षण करना इस बात को और अधिक स्पष्ट रूप से देखने के लिए कि आज भारत मे विद्वान क्या काम कर रहे हैं, लाभप्रद है। अधिकाश पाठ्य पुस्तकों में इस प्रकरण पर कुछ पैराग्राफ लिखे गये हैं, परतु इस पर की गयी चर्चा आमतौर पर कुछ-कुछ दुर्बोध यहां तक कि आदर्शवादी शब्दो मे की गयी है। इस विषय की विशुद्ध औपचारिक चर्चा अब आगे चल कर अधिक लाभदायक नही होगी, इस स्थल पर चर्चा करना तब ही लाभदायक साबित हो सकता है जब यह उस काम के बारे मे अधिक गहरी जानकारी जगा सकती है जिसमे हम संलग्न है।

अपने कथनों के विपरीत, विद्या-परिषद् लेबलों को लेकर ही अति व्यस्त है। परंतु, यदि हमारी चर्चा को फलदायक सिद्ध होना है, तो हमे उन लेबलो के पीछे निहित यथार्थ की ओर देखना चाहिए। क्या समाजशास्त्रियों और समाज-मानवशास्त्रियों द्वारा किये गये अनुसंधान मूलभूत रूप मे समान हैं या वे मूलभूत रूप मे भिन्न है? यदि वे मूलभूत रूप मे समान है तो फिर अनुसधानकर्ताओं को दो श्रेणियों मे क्यों विभाजित किया जाय और क्यों उनके बीच मे कृत्रिम रेखा खींची जाय? यदि वे मूलत: पृथक् हैं, तो फिर उनके मध्य के विभेद को निरंतर कायम क्यों न रखा जाय, और तब फिर लोग, विशेषकर भारत मे, लगातार अपनी भूमिकाओं को क्यों इस प्रकार बदलते रहते हैं—कभी वे समाजशास्त्री के रूप मे सामने आते हैं तो कभी समाज-मानवशास्त्री के रूप मे? हमे मानव समाज और संस्कृति के विद्यार्थियो के मध्य व्याप्त कार्य के विभाजन को आलोचनात्मक दृष्टि से देखना चाहिए।

यह सोचा जा सकता है कि आदर्श स्थिति में तो इस कार्य-विभाजन को सारे विश्व में एक समान होना चाहिए, परंतु हम जानते हैं कि यथार्थतः बात कुछ और ही है। समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र के मध्य जैसे संबंध फ्रांस में है— वैसे उनके मध्य ब्रिटेन में नहीं हैं और साठ वर्ष पूर्व इनका अंतर और भी गहरा था। एंग्लोफोन (आंग्ल भाषा ध्वनि वाले) देशों ने इन दोनों के मध्य व्याप्त अंतर को निरंतर कायम रखा है। और यह विभेद, दो विश्वयुद्धों के मध्य के काल मे सबसे तीक्ष्ण तथा सुस्पष्ट था। समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र के मध्य श्रम-विभाजन ब्रिटेन या संयुक्त राज्य अमेरिका में, विशिष्ट ऐतिहासिक स्थितियों के अंतर्गत उभर कर सामने आया था, और उसके पश्चात् अन्य देशों को, जहाँ स्थितियाँ एकदम भिन्न थी, सप्रेषित किया गया था। इस बात को स्वीकार करने के कोई कारण नहीं है कि, जो किन्ही विशेष स्थितियों में उचित और न्यायसंगत लगे, हमेशा उचित और न्यायसगत ही लगेगा।

मानव-समाजो और समुदायों के विद्यार्थियो के मध्य कार्य-विभाजन केवल उनके अंतिम, निर्णायक लक्ष्य और उनके वास्तविक शास्त्रीय उद्देश्यो और अभिरुचियों के आधार पर ही स्थापित किया जा सकता है। परंतु समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र के मध्य सबंधो के विषय में विचार करते समय, हमारे सम्मुख न केवल शास्त्रीय विभेदो की समस्या आती है, वरन् प्रशासकीय विभाजनों का प्रश्न भी आ जाता है। प्रशासकीय अर्थों मे, ये संबंध तब स्थापित हो चुके होते हैं, जब एक *विश्वविद्यालय या एक शोध-संस्थान इन दोनों को एक ही या पृथक् मानने का निर्णय* कर लेता है। भारत मे समाजशास्त्रो के प्रशासकीय संगठनो की समीक्षा करना वर्तमान चर्चा के क्षेत्र में नही आता। परंतु स्पष्टतः विद्वानों के मध्य श्रम-विभाजन, अंततः शास्त्रीय महत्वों और विचारो से निर्धारित होना चाहिए न कि प्रशासकीय विचारों से।

भारत मे, शास्त्रीय विधाओं के रूप में समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र हाल ही में उभरे है। इनके लिए, पहली बार कोई पचास वर्ष पूर्व बंबई और कलकत्ता में विश्वविद्यालय-विभाग स्थापित किया गया था, परंतु इनकी वास्तविक वृद्धि स्वतंत्रता के बाद ही हुई। यह एक अर्थ में सौभाग्य का विषय है क्योंकि प्रशासकीय संगठन के जो पैटर्न (नमूने) उभर कर सामने आये थे, कठोर बनने का पर्याप्त समय नही पा सके थे। इसलिए यह समीचीन ही है कि हम *स्वरूप ग्रहण करते हुए श्रम-विभाजन के तर्काधार का परीक्षण करें।*

समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र के मध्य संबंधों का परीक्षण हमें यह मान कर प्रारंभ करना चाहिए कि इन दोनों में किसी की भी परिकल्पना अकेली नही है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अभी हाल ही मे, केवल तीस ही वर्ष पूर्व,

मानवशास्त्री आंग्ल-अमेरिकी परंपरा के अंतर्गत ही, अपने संदर्भों की आधारभूत संरचना के विषय में विभाजित मत वाले थे। रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) का अनुसरण करते हुए, ब्रिटिश-मानवशास्त्री सामाजिक संरचना को अपना आधारभूत क्षेत्र मानते थे, जब कि अमेरिकी मानवशास्त्री संस्कृति के अध्ययन के पक्ष में थे।[1] अब यह वहम समाप्त ही हो गयी है—और सिंहावलोकन करने पर व्यर्थ ही जान पड़ती है—किंतु अन्य अंतरों और विभेदों को अब भी देखा जा सकता है।

इस विषय पर, यूरोपीय दृष्टिकोण एक दूसरे ही प्रकार का रहा है।

यूरोप में, मानवशास्त्र शब्द सामान्यतः भौतिक मानवशास्त्र के सीमित अर्थ में ही प्रयुक्त होता रहा है, जब कि ब्रिटिश और अमेरिकी विद्वान जिसे सामाजिक और सांस्कृतिक मानवशास्त्र कह रहे थे, उसे व्यापक रूप से नृजाति-विज्ञान कहा जाता था। जैसा कि रैडक्लिफ-ब्राउन ने अनेक वर्ष पूर्व संकेत दिया था, समाज-मानवशास्त्र और नृजाति-विज्ञान की एक समान अवस्थितियाँ नहीं थी।[2]

यहाँ यह बतलाना आवश्यक हो गया है कि यहाँ हम न केवल लेबलों के अंतर पर अपितु अंतर्वस्तु पर भी चर्चा कर रहे हैं। अपने काम को नृजाति-विज्ञान या सांस्कृतिक मानवशास्त्र कहने वाले लोग भौतिक और अभौतिक दोनों संस्कृतियों का अनुसंधान करने में, न्यायसंगत लगने लगे। इसके विपरीत, ब्रिटेन में, नृजाति-विज्ञान के पक्ष से समाज-मानवशास्त्र के पक्ष की ओर होने वाले परिवर्तन के साथ भौतिक संस्कृति के अध्ययन के प्रति अभिरुचियों का मौन प्रत्याहार जुड़ा था। अब, इस बात में निश्चय ही अंतर होगा कि हम एक जाति की भौतिक संस्कृति के अध्ययन को, उसकी सामाजिक संस्थाओं को समझने के लिए आवश्यक समझते हैं अथवा नहीं।

समाजशास्त्र के संकुचित अर्थों की ओर मुड़ते हुए, हम उन भिन्न-भिन्न विधियों की ओर भी कम आकर्षित नहीं होते जिनके द्वारा समाजशास्त्रियों ने अपनी विषय-वस्तुओं की परिकल्पना की है। आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व कार्ल मैनहीम (Karl Mannheim) ने दो निबंध लिखे, एक अमेरिकी समाजशास्त्र पर और दूसरा जर्मन समाजशास्त्र पर, जिनमें उन्होंने अमेरिकी अनुभववाद की जर्मन

[1] For the British point of view see R. Firth, 'Contemporary British Social Anthropology', *American Anthropologist*, Vol. 53, pp. 474–90, 1951; for the American point of view see G. P. Murdock, 'British Social Anthropology', *American Anthropologist*, Vol. 53, pp. 465–73, 1951.

[2] A. R. Radcliffe-Brown, 'The Methods of Ethnology and Social Anthropology' in M. N. Srinivas (ed.), *Method in Social Anthropology, Selected Essays by A. R. Radcliffe-Brown*, Asia, 1960.

दार्शनिक तन्मयता के साथ तुलना की है।[3] कुल मिलाकर, एंग्लो-सैक्सनों का समाजवाद के प्रति दृष्टिकोण यूरोपियनों के दृष्टिकोण से भिन्न है, और जब उन्हे यूरोपियन समाजशास्त्र रास नही आता, तब वे उसे समाज-दर्शनशास्त्र अथवा मात्र दर्शनशास्त्र की संज्ञा देने को प्रवृत्त होते हैं।

इस सबके साथ, अब हमारे पास सोवियत समाजशास्त्र है, जो स्वय को "बुर्जुवा समाजशास्त्र"[4] के विरोध में परिभाषित करता है। सोवियत सघ मे समाजशास्त्र का इतिहास स्वय मे एक ऐमा विषय है, जिसके पृथक् विवेचन की अपेक्षा है। यद्यपि इसका उद्भव, इस शताब्दी के प्रारंभ ही में हुआ है, फिर भी इसे सोवियत रूस मे क्राति के उपरांत उर्वर भूमि नही मिल सकी। अपने वर्तमान स्वरूप में तो यह अपेक्षाकृत हाल ही के मूल का है—यह बीस वर्ष से ज्यादा पुराना नहीं हो सकता—और अंततः यह क्या स्वरूप ग्रहण करेगा, इस बारे में कुछ कहना जल्दबाजी होगी।

समाजशास्त्र क्या है और समाज-मानवशास्त्र क्या है—इनकी सकल्पनाओं मे जो विषमता है वह जीवनशक्ति का चिह्न हो सकती है, परंतु वह उलझन उत्पन्न करने वाली भी सिद्ध हो सकती है। यदि कोई इन दोनो विषयों के मध्य मौलिक एकता बनाये रखना चाहता है, तो समाजशास्त्र की एक विशेष संकलपना छाँटी जा सकती है और यह दिखलाया जा सकता है कि वह समाज-मानवशास्त्र की प्रचलित सकल्पना के समान है। परंतु ऐसा भी हो सकता है कि समाजशास्त्र की दूसरी सकल्पना को छाँट कर, कोई और इन दोनो की विषमताओ को प्रकाश मे ले आये और इनकी समानताओ को देखे भी नही। समाजशास्त्र या समाज-मानवशास्त्र की कौनसी संकल्पना पसंद की जाती है—यह इस बात पर निर्भर करता है कि इन दोनों के मध्य संबंधो को किस दृष्टि से देखा जाता है।

यहाँ पर हम सिद्धांत और व्यवहार के, अर्थात् कथनी और करनी के, मध्य अंतर पर विचार करने के बिंदु पर पहुँच गये हैं। यह सोचने का कोई भी कारण नहीं है कि सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों की तुलना मे, सामाजिक विज्ञानों मे इन दोनों के मध्य पूर्ण तालमेल होगा।

संभव है कि दो प्रकार के लोग अपने अतिम लक्ष्यो को भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषित करें, परंतु वास्तविक व्यवहार में प्राय. एक जैसे कार्यों में सलग्न हों। इस प्रकार, उनके आधारभूत स्थिति-विन्यासो के अति पृथक् होने के बावजूद, सोवियत और अमेरिकी समाजशास्त्रियों के वास्तविक कार्यों मे काफी समानता हो

[3] Karl Mannheim, 'American Sociology' and 'German Sociology (1917–1933)', in *Essays in Sociology and Social Psychology*, Routledge and Kegan Paul, 1953.

[4] For a representative example see G. Osipov, *Sociology*, Progress Publishers, 1969.

सकती है। इसके विपरीत यह भी हो सकता है—और इसी से हमारा अधिक संबंध है—कि लोग अपने व्यापक उद्देश्यो को एक जैसे शब्दो मे व्यक्त (या परिभाषित) करें, परतु वास्तव मे अपने-अपने कार्यो को भिन्न-भिन्न रूप से करें। मैं यह दलील पेश करूँगा कि समाजशास्त्र और मानव-समाजशास्त्र के एक ही और एक जैसे ही उद्देश्य हैं, फिर भी, समाजशास्त्रियो और समाज-मानवशास्त्रियो ने भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य किये है।

इस शताब्दी के आरभ में, सामाजिक अतरक्रिया और सामाजिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन यूरोप और अमेरिका मे अच्छी तरह स्थापित हो चुका था। इस प्रकार के अध्ययन को इस बढती हुई जानकारी से प्रोत्साहन मिला कि विज्ञान के तरीकों को, सामाजिक तथ्यो के अध्ययन के लिए समुचित प्रकार से प्रयुक्त किया जा सकता है। देखा गया था कि सामाजिक जीवन के खास "पैटर्न" हैं, और इन "पैटर्नों" की खोज करना, उन विद्वानो का मुख्य कार्य हो गया, जो प्रारंभ मे विभिन्न विषयो या शास्त्रो से नियुक्त किये गये थे।

इन अध्ययनो के दो पहलू थे, जिन्होंने इनको पृथक् विशिष्टता दे दी थी, और जो आज भी उनके पारिभाषिक लक्षण हैं। इनमे पहला लक्षण समाज के विभिन्न संस्थानो की अतरसबधीयता का सामान्य बोध है। अनेक विद्वानों ने कुछ सस्थानों पर, अन्य सस्थानों की तुलना मे अधिक जोर दिया है, परतु उन सबने समाज को एक "व्यवस्था" के रूप मे देखने की चेष्टा की है, भले ही वह ढीले तौर पर ही सघटित हो। दूसरा लक्षण उस विधि का व्यवहार है, जिसे मैं "आपेक्षिक विधि" कहता हूँ। उसे किसी-न-किसी रूप से काम मे लाना है। कुछ विद्वानों ने अन्य विद्वानों की तुलना मे अधिक व्यापक सामान्यीकरणो को प्रस्तुत करने की चेष्टा की हैं, परंतु उन सब लोगों ने भिन्न-भिन्न समाजो की संस्थाओं की तुलना करने की उपयोगिता को स्वीकार किया है ताकि उनकी समानताओं और विषमताओं का पता लगाया जा सके।

अब, यदि हम समाजशास्त्र को इस ढंग से परिभाषित करते हैं, तो हम एकदम यही देखेंगे कि यह परिभाषा समाज-मानवशास्त्र की परिभाषा के लिए भी उपयुक्त बैठती है। वास्तव मे रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) का यही तर्क था कि समाज-मानवशास्त्र वही शास्त्र है, जो तुलनात्मक समाजशास्त्र है। सब लोग जानते हैं कि अंग्रेजी भाषा-भाषी समाज-मानवशास्त्रियों मे रैडक्लिफ-ब्राउन की बड़ी प्रतिष्ठा थी, और उनके एक छात्र डब्ल्यू० लायड वार्नर (W. Lloyd Warner) इस शती के तीसरे और चौथे दशकों मे अमेरिकी समाजशास्त्रियों के मध्य अति प्रतिष्ठापूर्ण स्थान पर आसीन थे। परतु रैडक्लिफ-ब्राउन की दलीलों के बावजूद, समाजशास्त्री और समाज-मानवशास्त्री ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया और कनाडा जैसे देशों मे किये गये, अपने कार्यों के विषय

में बहुत अशों में विभाजित थे।

यदि हमको यह समझना है कि रैडक्लिफ-ब्राउन के तर्क ने स्थापित प्रथाओ (व्यवस्थाओं) के विरुद्ध अधिक शक्ति क्यो नही अर्जित की, तो हमको यह समझना होगा कि ये व्यवस्थाएँ कैसे स्थापित हुई थी। समाजशास्त्र और समाज-मानव-शास्त्र, दोनों संपूर्ण मानव समाज के उद्भव और स्वभाव के विषय मे सामान्य प्रश्नो को उठाकर प्रारभ हुए थे। वे केवल तब ही शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विधाएँ एव शास्त्र बन सके थे, जब वे विशेष समाजो के विषय में अनुभव-जन्य अनुसधान करने लगे। अब हुआ यह कि जिस श्रेणी के समाजो को विस्तृत अध्ययन करने के लिए, समाजशास्त्रियो तथा समाज-मानवशास्त्रियों ने चुना था, वे समाज प्रारंभ से ही एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे। इस तरह, यह एक विडंबना है कि जिस प्रक्रिया ने ब्रिटेन और अमेरिका मे समाज के अध्ययन को दार्शनिक अनुमान के स्तर से शास्त्रीय अनुसंधान की सतह तक स्थानांतरित कर दिया था, उसी प्रक्रिया ने समाजशास्त्र तथा समाज-मानवशास्त्र को निरंतर बढ़ते हुए अतर की ओर अग्रसर कर दिया।

रैडक्लिफ-ब्राउन की फटकारो के बावजूद, ब्रिटेन में समाज-मानवशास्त्र, यथार्थ मे, अपने पूरे अर्थों मे तुलनात्मक समाजशास्त्र बनने के स्थान पर, उपनिवेशो में आदिम, जनजातीय या प्राक्-शिक्षित समाजो का अध्ययन बन कर रह गया। स्वयं रैडक्लिफ-ब्राउन के अनुभवजन्य अध्ययन-अनुसधान अंडमान द्वीपवासियो के तथा आस्ट्रेलियन आदिम वासियों के मध्य किये गये थे, और उनकी तुलनाएँ, जन-जातीय सस्थाओ की तुलनाएँ थी। मैलिनोव्स्की (Malinowski) तो इतनी दूर भी नहीं जाते; उनकी रचनाएँ, उनके द्वारा ट्रोब्रियाण्ड (Trobriand) द्वीपों मे किये गये क्षेत्र-कार्य पर ही पूर्णत: आधारित है।

मैलिनोव्स्की के छात्रो ने मुख्यत: अफ्रीका मे काम किया था, जहाँ उन्होने जन-जातियों के बहुविध संस्थानो का अनुसंधान किया था। ये अनुसंधान, विशेष समाजों के विभिन्न संस्थानो के मध्य बहुविध अन्योन्याश्रयो को जीवत तरीके से उद्घाटित कर देते हैं और इस प्रकार सामाजिक जीवन के आधारभूत सिद्धान्तों को ठीक से समझने के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। अफ्रीकी जनजातियो के मध्य भी राजनीति, रिश्तेदारी और ब्रह्माडिकी के तुलनात्मक अध्ययन किये गये थे। जन-जातियों के ये विस्तृत अध्ययन—सामान्य और विशिष्ट दोनों—सिद्धांतों को समझने की दिशा में उपयोगी सिद्ध होने के साथ-साथ, औपनिवेशिक प्रशासकों के लिए व्यावहारिक रूप से भी मूल्यवान सिद्ध हुए।

जॉर्ज होमन्स (George Homans) ने कुछ वर्ष पूर्व यह अतिशयोक्तिपूर्ण संकेत दिया था कि ब्रिटेन मे मानव-समाज के अध्येता यह सोचते हैं कि केवल उन्ही समाजो के वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता है जो कि "नेटिव" जन-

जातियों के हैं। स्वयं उनके अपने समाजो को ऐसे अध्ययनों की कभी भी आवश्यकता नही पड़ सकती।[5] उन्होंने कहा कि "यही कारण है कि ब्रिटेन ने अति विख्यात और उद्भट मानवशास्त्री तो दिये हैं, परंतु समाजशास्त्री एक भी नहीं।" भले ही यह कथन सर्वथा न्यायसंगत न हो, फिर भी इसने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया था कि ब्रिटेन मे वही व्यक्ति समाजशास्त्री होगा जो ब्रिटेन के समाजों या उनके सदृश ममाजों का अध्ययन करता है; और सामान्यत: वह उस व्यक्ति से बहुत अधिक भिन्न होगा, जो "नेटिव" समाजों का अध्ययन करता है।

औपनिवेशिक शासन अनिवार्यतः इस विचार को प्रक्षेपित करता है कि शासन करने वाले देश के रीति-रिवाज और सस्थाएँ उपनिवेशों के रीति-रिवाज और सस्थाओ से मूलतः भिन्न होते हैं। जो अपने समाज का अध्ययन करते हैं और जो अन्य संस्कृतियों का अध्ययन करते हैं—इन दोनों के मध्य जो अंतर है वह इसी विचार का एक दृष्टांत है। यह कोई इत्तफाक नहीं है कि यह विचार औपनिवेशिक युग में अपने चरमोत्कर्ष पर था। औपनिवेशिक युग के समाप्त होने के साथ, ब्रिटेन में ममाजशास्त्री तथा मानव-समाजशास्त्री एक-दूसरे के निकट आना शुरू हो रहे हैं।

औपनिवेशिक शासन ही एकमात्र ऐसी स्थिति नही है, जो समाजो के मध्य स्थित विभेदों को प्रकाश में ला रही है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे इस स्थिति को, प्राथमिक रूप से एक ही देश मे, दो भिन्न प्रकार की सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओ के सहअस्तित्व ने सभव बना दिया था। औद्योगिक नगरों की दुरूह, तकनीकी तौर पर उन्नत तथा विकसित और सशक्त रूप से उद्यमशील सभ्यता और जनजातियों की आबादियों की प्राक्-शिक्षित, तकनीकी दृष्टि से पिछड़ी तथा म्रियमाण सस्कृति के मध्य स्थित वैषम्य के समान सुतीक्ष्ण वैषम्य अन्यत्र दुर्लभ है। इसी वैषम्य से, संयुक्त राज्य अमेरिका मे, समाजशास्त्र और सामाजिक या सास्कृतिक मानवशास्त्र के मध्य विभेद उत्पन्न हुआ।

बोआस (Boas), क्रोइबर (Kroeber), लोई (Lowie) जैसे बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के महान अमेरिकी मानवशास्त्रियों ने अमेरिकी इंडियन जनजातियों के अध्ययन मे अपने आपको लगा दिया था। ये जनजातियाँ अपनी बस्तियों में, जहाँ वे विशेष *स्थितियों* में रहती थी, सबसे अलग-थलग थीं। ये स्थितियाँ—न केवल उन स्थितियों से पृथक् थीं, जो औद्योगिक शहरों मे थी, वरन् उन स्थितियों से भी भिन्न थी, जिनमे यूरोपियनो के आने के पूर्व अमेरिकी इंडियन रह चुके थे। अमेरिकी मानवशास्त्रियों द्वारा सस्कृति-विशिष्टता के अध्ययन की ओर सबसे पहले लगने का कारण यही था कि जिन लोगों का उन्होने अध्ययन किया था,

[5] G. C. Homans, 'Giving a Dog a Bad Name' in G. C. Homans, *Sentiments and Activities*, Routledge and Kegan Paul, 1962.

अधिकांशतः उनकी ऐसी अग्रगामी व्यवस्थाएँ नहीं थी, जैसी कि ब्रिटिश समाज-मानवशास्त्री अफ्रीका मे देख चुके थे।[6]

अमेरिकनो ने जिन अग्रगामी सामाजिक व्यवस्थाओ का अध्ययन किया था, वे शीघ्र गति से फैलते हुए औद्योगिक नगरो मे उभर रही थी। अमेरिकनों ने अपने निजी समाज का परीक्षण करने में ऐसा कोई संकोच नही दिखलाया जैसा होमन्स के कथनानुसार ब्रिटिश समाजशास्त्रियो ने दिखलाया था। इसके विपरीत, उन्होंने (*अमेरिकन समाजशास्त्रियो ने*) *विश्व के किसी भी भाग के समाजशास्त्रियों की तुलना* में, कही अधिक अनुभवजन्य अनुसधान प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही, हाल ही तक अमेरिकी समाजशास्त्री, अन्य समाजों को पूर्णत. भुलाकर अपने निज के समाज के ही अध्ययन मे अति व्यस्त रहे हैं।

अमेरिकी समाजशास्त्रियों के अध्ययन मे नगरों ने प्रमुखता पायी है। जैसा कि सर्वविदित है, अमेरिकी समाजशास्त्र की शक्ति, ब्रिटिश समाज-मानवशास्त्र की शक्ति की भाँति, उसके अनुभवजन्य शोध कार्य में आधारित होने के कारण ही सभव हुई है। कारखानो और दफ्तरो मे काम तथा व्यवस्था की समस्याएँ, घर तथा पड़ोस मे अवकाश और मनोरजन के प्रश्न, नगर के भिन्न-भिन्न मुहल्ले और उनकी सामाजिक-आर्थिक विशेषताएँ—इन्ही सब के अध्ययन ने अमेरिकी समाजशास्त्र को उसका विशिष्ट पृथक् स्वरूप दिया है। इसके विपरीत सयुक्त राज्य अमेरिका मे, *ग्रामीण समाजशास्त्र* एक निम्न प्रतिष्ठा तथा निम्न प्राथमिकता का विषय है।

विद्वानों के विभिन्न समूहों ने आदिम और सभ्य समाजो का अध्ययन इस दृष्टि से किया कि ये (दोनो) समाज एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे। ये विभेद काल्पनिक न होकर वास्तविक थे, यद्यपि उस विधि ने, जिसमें सामाजिक जीवन का अध्ययन संगठित हो रहा था, सभवतः इन अंतरो को अतिरंजित कर दिया था। जब समस्त समाजो का एक ही विधा (शास्त्र) की संरचना के अंतर्गत अध्ययन किया जाता है, तो उन्हे एक ही आधारभूत पैटर्न का रूपभेद समझा जा सकता है। जब उनका अध्ययन भिन्न-भिन्न विधाओं (शास्त्रों) मे विभाजित हो जाता है, तब यह आभास हो सकता है कि वे मूलतः भिन्न पैटर्नो या नमूनो का प्रतिनिधित्व करते है।

यदि समाज-मानवशास्त्रियो ने रिश्तेदारी (सबधो की) व्यवस्था पर अधिक ध्यान दिया है, तो इसका कारण यही है कि ये व्यवस्थाएँ और प्रथाएँ, औद्योगिक समाजो के विपरीत, जनजातीय समाजो मे कही अधिक व्यापक और सुप्रकट है। जहाँ समस्त समुदाय एक ही वशावली द्वारा दर्शाया जा सकता है, जैसे कि आस्ट्रे-

[6] A similar point has been made by Max Gluckman, *Politics, Law and Ritual in Tribal Societies*, Basil Blackwell, 1965, pp. 33–4.

लियन जनजातियो मे, वहाँ वशक्रमो का अध्ययन और वशक्रमागत सवंधो से जोडे गये मूल्य स्वभावतः महत्वपूर्ण हो जाते है।

और जब "कजिन" (cousin) शब्द के लिए चार पृथक् शब्दो का प्रयोग किया जाता है तो यह उस शोधकर्ता के लिए दिलचस्पी का विषय बन जाता है, जिसके निजी समाज मे इसके लिए मात्र एक ही शब्द कजिन (cousin) प्रचलित है। वशावली विधियों के अनुसार, "रिश्तेदारी" के शब्दो का सकलन तथा विश्लेपण, रिवर्स (Rivers) के समय से ही, प्रत्येक मानवशास्त्री के प्रशिक्षण के आवश्यक अग रहे है। इसके विपरीत, सवधो और विवाह का अध्ययन—पारिवारिक सबधो से सर्वथा पृथक्—समाजशास्त्रियो—विशेपकर अमेरिका मे—के लिए अत्यत कम महत्व का रहा है। जब होमन्स (Homans) ने वरणात्मक सजातीय या सगोत्रीय विवाह के अध्ययन का कार्य आरंभ किया था तो उन्होंने यह सोचा था कि वे एक मानवशास्त्री की भूमिका निभा रहे है, जो कि एक अमेरिकी समाजशास्त्री[7] के लिए कुछ असामान्य बात थी।

रिश्तेदारी के अध्ययन का जो महत्व मानवशास्त्र के लिए है, वही महत्व समाजशास्त्र के लिए सामाजिक "वर्ग" अथवा स्तरीकरण के अध्ययन का है। यहाँ भी अमेरिकी और यूरोपियन समाजशास्त्रियो के दृष्टिकोणो मे अतर था। यूरोपियन समाजशास्त्री "वर्ग" या "श्रेणी" का अध्ययन मार्क्सवादी अर्थो मे करने मे रुचि रखते थे; परवर्ती समाजशास्त्रियो की अभिरुचि "पद", "प्रतिष्ठा" और सामाजिक "दर्जे" के इर्द-गिर्द केंद्रित थी। मानवशास्त्रियो ने इन प्रश्नों पर अधिक रुचि कभी नही दिखलायी, क्योकि जिन जनजातीय समाजो का उन्होने अध्ययन किया था, उनमे या तो सुस्पष्ट रूप से व्यक्त वर्गीकृत श्रेणियाँ या परस्पर विरोधी "वर्ग" नही थे।

एक ओर रिश्तेदारी के और दूसरी ओर स्तरीकरण के अध्ययनों ने साहित्य के विशिष्टीकृत समूहो को जन्म दिया है, जिनमे प्रत्येक का अपना निजी वर्गीकरण, अपना निजी परिकल्पना-समूह और अपनी तकनीकी या पारिभाषिक शब्दावली है। यह अतर पेशेवर पत्रो की विषय वस्तुओ मे—विशेषत. अमेरिका मे—झलकता है। आज, अनेक समाजशास्त्री रिश्तेदारी सिद्धात के क्षेत्र मे चल रही वर्तमान चर्चा के प्रति योगदान देने, यहाँ तक कि उसका अनुसरण करने, की योग्यता मे अपने को अक्षम पाते है; ठीक इसी प्रकार, अधिकाश मानवशास्त्री, सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन के लिए विकसित की जा रही तकनीकों की बारीकियो से अचम्भे और परेशानी में पड़ जायेंगे। यह एक प्रकार से दुर्भाग्यपूर्ण है, क्योकि रिश्तेदारी और सामाजिक असमानता के प्रश्न, मानव-समाज के

[7] G. C. Homans, 'Introduction', op. cit.

विद्यार्थी के लिए यदि सर्वव्यापी महत्व के नहीं—तो कम-से-कम सामान्य महत्व के तो हैं ही।

जनजातीय और औद्योगिक समाज दो एकदम विरोधी पक्षों को झलकाते हैं, भले ही हम उन्हें विकासवादी माप से देखें या केवल आकार और संरचना की दुरूहता के अनुसार। पश्चिम मे मानवशास्त्री सबसे अधिक प्राथमिक या प्रारंभिक रूप-विधानों की ओर ही विशेष रूप से आकृष्ट हुए हैं और समाजशास्त्री मानव-समाज के सबसे उन्नत अथवा दुरूह रूप-विधानों की ओर आकर्षित हुए है। यदि इनमें से एक या दोनों ने मध्यम मार्ग (में काम करना) अपनाया होता, तो उनके बीच मे जो विभेद या पार्थक्य आज हम देखते हैं वह उभर कर सामने आता। जैसा कि हमने कहा है, 'ऐतिहासिक तत्वों ने उन्हें ऐसे समाजों को (अध्ययन के निमित्त) चुनने की प्रेरणा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, जिनके कि पार्थक्य और विभेद, उनकी समानताओं की तुलना मे अधिक स्पष्ट दृष्टिगोचर थे।

अनुभवजन्य जाँच-पड़तालों के अनुक्रम के प्रति इस मौलिक अंतर के बने रहने से, अन्य अंतरो का उभरना निश्चित था। परंतु इनका महत्व गौण है। हमने पहले ही देख लिया है कि समाजशास्त्रियों तथा समाज-मानवशास्त्रियों द्वारा विशेष रूप से महत्व दिये जाने वाले संस्थागत क्षेत्रों में पार्थक्य विद्यमान हैं। परतु ये अपने आप मे विशेष महत्व नही रखते। जब कोई न्यूयार्क के किसी उपनगर में विवाह या रिश्तेदारी का अध्ययन करता है, तो वह समाजशास्त्री होने का दावा कर सकता है, परतु जब वह क्वाकियुट्ल इंडियनों (Kwakiutl Indians) के मध्य श्रेणी, पद और प्रतिष्ठा का अध्ययन करता है तब वह मानवशास्त्री माना जाता है। अमेरिका, और कुछ सीमा तक ब्रिटेन, मे महत्व इसका होता है कि किस प्रकार के समाज का अध्ययन और अनुसंधान किया जा रहा है, न कि इस बात का कि समाज के किस पहलू का विश्लेषण किया जा रहा है।

हालांकि ब्रिटेन और अमेरिका मे, समाजशास्त्री और समाज-मानवशास्त्री, विचारों और संकल्पनाओं की दृष्टि से, भिन्न-भिन्न ढंग से सोचते है फिर भी इसे उनके पारस्परिक अंतरों (भेदो) का आधारस्रोत मानना भूल होगी। प्रत्ययात्मक उपकरणों का अंतर तब और स्पष्ट होकर सामने आ गया, जब विद्वान लोग विरोधी समाजों के अनुभवात्मक अध्ययनों की ओर लगने लगे। और इसके बावजूद "संरचना", "कार्य", "पद", "भूमिका", "विग्रह", "परिवर्तन" और "विकास" जैसी आधारभूत संकल्पनाएँ समाजशास्त्रियों और मानव-समाजशास्त्रियों द्वारा बहुधा एक ही प्रकार से, एक ही अर्थ में प्रयुक्त की जाती है।

मानव-समाज के दो प्रकारों के अध्येता विद्यार्थियों द्वारा प्रयुक्त विधियों के पार्थक्य को बहुत तूल दे दिया जाता है। फिर भी, प्रथमत: ये पार्थक्य उतने बड़े नहीं हैं, जितना कि उनको दिखलाया गया है। द्वितीयत: वैज्ञानिक या शास्त्रीय

जांच का कोई भी क्षेत्र, उसकी विधियो द्वारा परिभाषित नही किया जा सकता। मूलभूत महत्व का विषय तो विचाराधीन समस्या का प्रश्न है; अध्ययन के प्रश्न को ही प्रयोग मे लायी जाने वाली विधि के बारे में निर्णय लेना चाहिये। मैं इससे भी आगे बढ़ूंगा और "दृष्टिकोण" (approach), "विधि" (method) और "तकनीक" (technique) के मध्य विभेद करूँगा, और कहूँगा कि समाजशास्त्र और मानव-समाजशास्त्र का सामाजिक जीवन के अध्ययन के प्रति समान ही दृष्टिकोण है, कि उनकी विधियाँ एक-सी हैं, परन्तु उन्होंने अनुसंधान और विश्लेषण की भिन्न तकनीकें विकसित की है।

मानवशास्त्र और समाजशास्त्र की असमानता, अक्सर गहन क्षेत्र-कार्य और सर्वेक्षण-शोध-कार्य की विधियो के बीच वैषम्य और विरोध के अर्थों में देखी जाती है। विषमता प्रस्तुत करने का यह ढग अनुभवगम्य रूप से मिथ्या, अतर्कात्मक एवं युक्तिहीन लगता है। कोई भी समाजशास्त्री, जो वास्तविक समाजों के अध्ययन मे अभिरुचि रखता है, अपने आपको गहन क्षेत्र-कार्य से वचित करना नही चाहेगा; कोई भी मानवशास्त्री, सिद्धान्ततः सर्वे-शोध-कार्य करने की सभावनाओ को अलग नही करना चाहेगा।

गहन क्षेत्र-कार्य विशेषतः प्राक्‌शिक्षित जनजातीय समाजों का अध्ययन करने की जरूरतों के उपयुक्त है। उस पश्चिमी विद्वान को, जो जनजातीय जीवन से सबद्ध आँकडे एकत्र करना चाहता है, अपने पर्यवेक्षण के लिए काफी दूरी तय करनी पड़ेगी। यदि वह ब्रिटेन का निवासी है, तो उसे अपना देश छोड़ना पडेगा और अफ्रीका या मलयेशिया या आस्ट्रेलिया की यात्रा करनी पडेगी। यदि वह अमेरिकी है, तो उसे कम-से-कम अपने शहरी आवास से जनजातियो की बस्ती तक यात्रा करनी पड़ेगी। यह अपने आप मे एक बड़ा निवेश है, और जो इसे लगाता है वह स्वभावतः तब तक इस क्षेत्र में रहना चाहेगा, जब तक कि उसे पर्याप्त प्रतिफल और आय प्राप्त नहीं हो जाती। जिन्होंने ब्रिटिश मानवशास्त्रियों को अफ्रीका मे क्षेत्र-कार्य करने के हेतु प्रस्तुत होते देखा है, वे इस बात को भली भाँति समझ सकते है कि क्यो वे वहाँ कम-से-कम एक वर्ष रहना चाहते हैं।

इसके अन्य कारण भी है कि क्यों मानवशास्त्री को क्षेत्र में दीर्घ काल तक रहने की आवश्यकता है। यदि उसे विश्वसनीय आँकड़े एकत्र करने हैं, तो उसे स्थानीय भाषा सीखनी चाहिए; समाजशास्त्री इस स्थानीय भाषा से अवगत है, क्योंकि ब्रिटेन और अमेरिका में वह अपने निज के ही समाज का अध्ययन करता है। मानवशास्त्री को न केवल एक नवीन भाषा ही सीखनी होगी, वरन उसे अपने आप को नयी कोटि के विचारों से भी अवगत कराना होगा। इस प्रकार वह अपने आँकड़े एकत्र करता है और आश्वस्त होता है कि ये विश्वस्त और अर्थवान है। इस सबके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने कार्य में सतर्कतापूर्वक और

धैर्य से आगे बढे। अनुसंधान की अन्य तकनीके केवल तब ही प्रयोग मे लायी जा सकती है, जबकि मानवशास्त्री ने, गहन क्षेत्रीय कार्य द्वारा अपने दिशाकोणों को सीधा कर लिया है।

ब्रिटेन और अमेरिका मे समाजशास्त्री ऐसे संस्थानों या सस्थाओ की कार्य-पद्धति का अध्ययन करते है, जिनके मूल स्वभाव से वे पहले से ही परिचित होते है। इसलिए, वे अपरिचित संस्कृति से परिचित होने के पहले कदम से वचित होना बर्दाश्त कर सकते हैं। परतु, यह केवल कोटि या दर्जे का विषय है। एक दुरूह औद्योगिक समाज मे, अनेक कम्पार्टमेंट होते है और जब एक समाजशास्त्री एक ऐसे कम्पार्टमेंट मे शोध करना चाहता है, तो उसे भी गहन क्षेत्र-कार्य से प्रारम्भ करना होगा। विलियम फूट ह्वाइट (William Foote Whyte) ने इसका वर्णन किया है कि अमेरिकी "स्लम" (बस्ती) की दुनिया किस प्रकार उसके निजी मध्यवर्गीय परिवेश से भिन्न थी कि उस (स्लम की) दुनिया का अध्ययन करने के लिए, उसे वाध्य होकर गहन क्षेत्र-कार्य की विधि अपनानी पड़ी थी।[8]

इन विचारो ने समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के बीच विद्यमान अंतर को, जरा पृथक् रूपों मे, पुनर्सूत्रबद्ध करने को प्रेरित किया है। यह कहा जाता रहा है कि मानवशास्त्र "अन्य सस्कृतियो" का अध्ययन है, जिसका निहितार्थ यह हुआ कि समाजशास्त्र मूलत. अपने निजी समाज और सस्कृति का ही अध्ययन है। लेवी-स्ट्राउस (Lévi-Strauss) ने अपनी निज की संस्थाओं का विदेशी संस्थाओ के "विपक्ष"[9] मे अध्ययन के परिप्रेक्ष्यों के अतरो पर जोर दिया है।

परंतु इस तरह का विभेदीकरण केवल उलझनें ही पैदा करता है। क्योकि, यदि वह निरंतरता से इस्तेमाल किया जाता है, तो जो किसी अमेरिकी के लिए मानव-विज्ञान है वही किसी भारतीय के लिए समाज-विज्ञान हो सकता है, और जो अमेरिकी के लिए समाज-विज्ञान है, भारतीय के लिए वही मानव-विज्ञान हो सकता है। यह विभेद (पार्थक्य) केवल तब तक ही कार्य कर सकता है, जब तक पश्चिमी और अपश्चिमी, सभी समाजो का अध्ययन केवल पश्चिमी विद्वानो द्वारा किया जा रहा हो। जब समस्त विश्व के विज्ञान अपने और साथ ही दूसरो के समाजो का अध्ययन करते है, तो यह एकदम निरर्थक हो जाता हैं।

यदि ब्रिटेन और अमेरिका मे समाज का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियो के कार्य की व्यवस्था एक विशेष प्रकार की स्थितियो के सेट का प्रत्युत्तर है, तो हमें उन देशो मे भिन्न प्रकार की व्यवस्था की अपेक्षा करनी चाहिये, जहाँ स्थितियाँ

[8] William F. Whyte, *Street Corner Society*, University of Chicago Press, 1955, Appendix.

[9] G. Charbonnier (ed.), *Conversations with Lévi-Strauss*, Jonathan Cape, 1969.

भिन्न हैं या भिन्न प्रकार से कल्पित है। फिर भी, अनेक उलझने पैदा करने वाले लक्षण विद्यमान हैं। विद्वानों के मध्य कार्य का अभ्यास (प्रवृत्ति) तब भी जारी रह सकता है, जबकि वे स्थितियाँ, जिन्होंने उन्हें प्रेरित या उत्पन्न किया, बदल गयी हैं। इसके अतिरिक्त, काम की प्रवृत्तियाँ जो एक देश में उद्भूत होती हैं, दूसरे देशों को स्थानांतरित हो सकती है, भले ही वे वहाँ की स्थितियों के बिल्कुल अनुकूल न हों।

यह सुझाव देना गलत है कि उपनिवेशवाद, निश्चयतः मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के मध्य विभाजन कर देता है, जैसा कि एक बडी सीमा में ब्रिटेन में हुआ था। यदि हम फ्रास की ओर, जिसका भी एक औपनिवेशिक साम्राज्य था, दृष्टिपात करते हैं, तो हम आदिम समाजों तथा सभ्य समाजों के शोध विद्यार्थियों के मध्य एक भिन्न ही प्रकार के संबंधों के पैटर्नों को देखते हैं। ये संबंध पिछली शताब्दी और वर्तमान काल के बीच काफी बदल गये हैं। यदि फ्रांस में, एक काल विशेष मे, समस्त प्रकार के मानव समाजों का अध्ययन एक ही बौद्धिक प्रचेष्टा का अंश बन गया था, यह उपनिवेशवादी यथार्थता के बावजूद, जिसने विश्व को दो भागों मे बाँट दिया था, सभव हुआ होगा। परतु वास्तविकता ने शीघ्र ही अपने महत्व को प्रकट कर दिया, जिससे फ्रांस में, यहाँ तक कि ब्रिटेन से भी अधिक, आदिम और सभ्य सभ्यताओं के अध्ययन, दो पृथक् विषय बन गये।

रैडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) का पूर्वोक्त विचार कि समस्त मानव-समाजों के अध्ययन को समाहित करने वाले तुलनात्मक समाजशास्त्र का केवल एक ही विज्ञान हो सकता है, वास्तव में उनकी देन नही था, वरन् उनके प्रतिष्ठित विद्वान प्रोफेसर, इमिल डर्खीम की देन था। समाजवादी विचारधारा के इतिहास में डर्खीम का एक अति विशिष्ट और अनुपम स्थान है। उन्हे समाजशास्त्री और समाज-मानवशास्त्री दोनो समान रूप से एक संस्थापक के रूप में मानते हैं और वे सारे संसार के प्रत्येक भाग मे, आज भी, मानव समाज के अध्येताओं के लिए प्रेरणा स्रोत बने हुए हैं।

डर्खीम ने न केवल तुलनात्मक समाजशास्त्र का प्रचार किया, जैसा कि उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती विद्वानों ने किया है, वरन् उसको बडी विशेषता से आकार मे परिणत भी किया। उनका यह विश्वास था कि सभी प्रकार के समाजों के अध्ययन के लिए एकसी विधियों को ही उपयोग मे लाना चाहिए; और उन्होंने स्वयं, आस्ट्रेलियन जनजातियो के बीच "टोटेमवाद" के, समकालीन यूरोपियनों की आत्महत्या की दर के और पुरातन तथा वर्तमान सभ्यताओ के मध्य घनिष्ठता के स्वरूपो के अध्ययन के लिए इन विधियों को प्रयुक्त किया। पश्चिमी समाजों के विद्वानों मे डर्खीम जैसी आदिम जातीय समाजविषयक अतर्दृष्टि नही थी, और

इस क्षेत्र मे तो अपने समकालीन मानवशास्त्रियों के मध्य भी उनका कोई प्रतिद्वंद्वी नही था।

डर्खीम ने जो काम किया उसका वास्तविक महत्व इसमे है कि वह काम सामूहिक प्रचेष्टाओं का प्रतिफल था। डर्खीम ने अपने इर्द-गिर्द ऐसे निष्ठावान विद्वानों का समूह एकत्र कर रखा था, जो मानव समाज विषयक और समाजशास्त्रीय अनुसधान की निश्चित विधियो के संबंध मे समान विचार रखते थे। वे एक-दूसरे के निकट साहचर्य मे काम करते थे और पृथक्-पृथक् प्रकार के समाजो का अनुसंधान करते थे। इन अनुसधानो के निष्कर्ष *लान्ने सोशियोलोजीक* (*L'Année Sociologique*) नामक पत्र में प्रकाशित हुए थे। ये प्रबंध समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र की एकता के ज्वलत प्रमाण है।

लान्ने सोशियोलोजीक 1898 में स्थापित किया गया था और 1913 मे इसका प्रकाशन बंद कर दिया गया। इसी काल (1898–1913) के दौरान, फ्रेंच समाजशास्त्री विचारधारा ने अपना विशिष्ट स्वरूप प्राप्त किया था। डर्खीम और उनके सहकर्मी, आधुनिक अर्थों मे *क्षेत्र कार्यकर्ता* नही थे, और एक प्रकार से इस तथ्य ने उनके लिए समाजों के ज्यादा विस्तृत क्षेत्रो का अध्ययन, आज के अपने अनुभवजन्य कार्य से सामग्री एकत्रित करने वालों की तुलना में, अधिक सहज कर दिया था : मैंने पहले, अनुभवात्मक अनुसधानो की उस भूमिका के विषय मे कहा है, जो उन्होने ब्रिटेन और अमेरिका में, समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र के मध्य पार्थक्य स्थापित करने में निभायी है।

जबकि, उस समय, आंग्ल-सैक्सन देशों मे मानव समाज के अध्येता मुख्यतः केवल दो प्रकार के समाजों के अध्ययन में रुचि ले रहे थे—जनजातीय या अत्यंत प्रारंभिक, और औद्योगिक या अति प्रगतिशील और उन्नत, *लान्ने सोशियोलोजीक* मंडली के सदस्यगण, इसके अतिरिक्त, पुरातन सभ्यताओ मे भी अभिरुचि रखते थे—बुगले (Bouglé) एक सस्कृतज्ञ थे, ग्राने (Granet) एक चीनी विशेषज्ञ—और इस हद तक उनका दृष्टिकोण यथार्थ मे अधिक तुलनात्मक था। उनके अध्ययन आज हमारे लिए यह स्पष्ट कर देते है कि यदि समाज के विज्ञान या शास्त्र को, उस कोटि के समाज के अनुसार विभाजित किया जाता है जिसका कि अध्ययन किया जा रहा है, तब हमे दो नही वरन तीन या और अधिक उप-विभाजनों की आवश्यकता पड़ जायेगी।

डर्खीम की मृत्यु के उपरांत, फ्रांस मे संस्कृति और समाज के अध्ययन ने एक नवीन मोड़ ले लिया। समाजशास्त्र और मानव-जाति-विज्ञान के मध्य पार्थक्य ने एक बार पुनः अपना जोर दिखलाया। दो विश्वयुद्धो के मध्य के काल मे, मार्क्सवाद, फ्रांस के समाजशास्त्र मे एक महत्वपूर्ण प्रभाव बन गया, और यह प्रभाव आज भी विद्यमान है। डर्खीम के भतीजे और सहयोगी, मर्सेल माउस (Marcel

Mauss) ने सान्ने-सोशियोलोजीक की परम्परा को आगे बढ़ाने की चेष्टा की, परंतु उनका प्रभाव मानव-जातिशास्त्रियों (अथवा आदिम और पुरातन समाजों के अध्येताओं) तक ही समवत रहा और समाजशास्त्रियों (अथवा समकालीन पश्चिमी समाजों के अध्येताओं) के बीच उनका प्रभाव क्षीण होता गया।

फ्रांस में, आज, समाज और संस्कृति के संभवतः दो सर्वाधिक प्रभावपूर्ण अध्येता रेमों अरों (Raymond Aron) और क्लाउद लेवी-स्ट्राउस (Claude Lévi-Strauss) हैं। उनका काम समाजशास्त्र और मानवशास्त्र की पृथकता का स्पष्ट और जबर्दस्त उदाहरण है, और इसी पृथकता को दूर करने के लिए सान्ने सोशियोलोजीक ने चेष्टा की थी। अरों तुलनात्मक समाजशास्त्र के जबर्दस्त समर्थक हैं, परंतु उनके लिए यह व्यवहार में केवल औद्योगिक समाज के रूपांतरों की तुलना बनकर रह गया है। लेवी-स्ट्राउस (Lévi-Strauss) भी तुलनात्मक विधि के अध्येता है, परंतु वे इसका प्रयोग केवल आदिम या प्राथमिक समाजों और संस्कृतियों की तुलना के लिए ही करते हैं। और यद्यपि अरों (Aron) ने औद्योगिक समाज पर अपने ग्रंथ-त्रय[10] का प्रारंभ *ला स्ट्रक्चर एलीमेन्तेयर द ला परेंतें* (*Les Structure élémentaires de la Parenté*) को समाजशास्त्रीय अनुसंधान का माडल बनाकर किया था,[11] उन्होंने इस कृति के शेष भाग में लेवी-स्ट्राउस के विचारों का कोई उल्लेख नहीं किया।

मैंने यह दलील दी है कि "तुलनात्मक तरीके" के गुणों का समर्थन करना एक बात है, और उस तरीके या विधि को उसके पूरे अर्थ में व्यवहार में लाना एक दूसरी बात है। यूरोप और अमेरिका में, एक जबर्दस्त प्रवृत्ति, संसार को प्राथमिक (आदिम) और सभ्य समाजों में द्विभाजित करने के लिए परिलक्षित हो रही है, और यह प्रवृत्ति अन्य किसी भी "तुलनात्मक समाजशास्त्र" के आदर्श नमूने की तुलना में, समाज के अध्येताओं के मध्य वास्तविक श्रम-विभाजन का निर्णय करने का सशक्त उपकरण सिद्ध हो रही है।

फिर भला हमें समकालीन भारत में समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र के पारस्परिक संबंधों को किस दृष्टि से देखना चाहिये? हमने अनेक स्थलों पर लोगों द्वारा निर्मित "आदर्श नमूनों" के मध्य अंतरों पर जोर दिया है—भले ही ये नमूने, आदिम या उन्नत समाजों के अध्ययनों के लिए बनाये गये थे अथवा तुलनात्मक समाजशास्त्र के लिए—और वे यथार्थ में अपना कार्य किस

[10] Raymond Aron, *Dix-huit Leçons sur la Société industrielle*, Gallimard, 1962; *La Lutte de Classes*, Gallimard, 1964; *Democratie et Totalitarisme*, Gallimard, 1965.

[11] Aron, 1962, op. cit., p. 24.

विधि से करते हैं, इस पर भी जोर दिया है। इन दो विषयो की अथवा एक ही विषय की दो शाखाओं की यथार्थवादी चर्चा करते समय, इस बात को कि समाज-*शास्त्री और समाज-मानवशास्त्री भारत में क्या काम करते आ रहे है और* भविष्य में उनसे किन कामो की सभावना है—ध्यान मे रखना होगा।

प्रथम तथ्य जिसे हमें ध्यान मे रखना है यह है कि दोनो—समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र—जैसा कि हम उन्हें जानते है, भारत मे बाहर से, विशेषकर *ब्रिटेन से, लाये गये थे। ब्रिटिश विद्वानो* ने, जो भारत मे रहते थे या जो भारत मे भ्रमणार्थी बनकर आये थे, इन विषयों को "ऊपर उठाने" मे सहायता दी। आगे चलकर, "विदेशों" में, मुख्यत ब्रिटेन और सयुक्त राज्य अमेरिका में, प्रशिक्षित भारतीय विद्वानो ने भारत मे समाज और संस्कृति के अध्ययनो को विकसित करने *की दिशा मे महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। जबकि इन विद्वानो ने भारतीय संस्कृति* और समाज विषयक हमारे ज्ञान मे यथेष्ट वृद्धि की थी, उनके सामान्य सैद्धातिक "अनुकूलन", कुछ अपवादो को छोड़कर, अधिकतर ब्रिटेन और अमेरिका के विद्वानो के ही थे।

शैक्षिक विषयो के रूप में, समाजशास्त्र और मानवशास्त्र, भारत में प्राय. आरंभ से ही अलग-अलग माने जाते थे। भारतीय विश्वविद्यालयो में आज से पचास वर्ष से कुछ अधिक समय से इन्हे पृथक्-पृथक् विषयों के रूप मे पढाया जाने लगा था। बंबई विश्वविद्यालय ने समाजशास्त्र के अध्यापन से प्रारभ किया और कलकत्ता विश्वविद्यालय ने मानवशास्त्र से। दो दशको से भी अधिक काल तक ये दोनो विश्वविद्यालय इन विषयों के अध्यापन तथा शोध-कार्य के प्राथमिक केन्द्र बने रहे। आगे चलकर, जब नये विभाग खुलने लगे, पूर्वी क्षेत्र में विश्वविद्यालयो ने मानव-शास्त्र को चुना और पश्चिमी क्षेत्र में स्थित विश्वविद्यालयो ने सामान्यतः समाज-शास्त्र को। अनेक नये विश्वविद्यालयो मे अब इन विषयो के अध्यापन के लिए पृथक्-पृथक् विभाग हैं, यद्यपि कलकत्ता में केवल मानवशास्त्र का विभाग है और बबई में केवल समाजशास्त्र का विभाग है।

मानवशास्त्र सामान्यतः विज्ञान-सकायों मे पढाया जाता है, जबकि समाजशास्त्र कला (या समाजशास्त्रो के) संकायो में पढाया जाता है। यह प्रभेद शोध-कार्य की सस्थाओं तथा समूहों के सगठन के क्षेत्र में भी ले जाया गया है। भारतीय विज्ञान काग्रेस मे, पुरातत्व-विज्ञान और मानवशास्त्र के विभाग हैं, परंतु समाज-विज्ञान का कोई भी पृथक् विभाग नही है। अंग्रेजों के जमाने से ही, "भारतीय मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण" (Anthropological Survey of India) जैसा विभाग बना हुआ है। इसी प्रकार पुरातत्व-विज्ञान, *वनस्पति-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान,* भू-विज्ञान के क्षेत्रों में भी संगठन हैं। परतु समाजशास्त्रीय शोध-कार्य के लिए इस प्रकार का कोई भी संगठन नही है।

मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के मध्य जो विभाजन अर्द्धशताब्दी पूर्व प्रस्तावित किया गया था वह आज भी औपचारिक सगठन (set-up) मे प्रत्यक्ष प्रकट हो रहा है। यह विभाजन उस जमाने में ब्रिटेन में भी दोनों विषयों के बीच मौजूद था। मानवशास्त्री जनजातियो मे रीति-रिवाजो का अध्ययन करने वाले थे और समाजशास्त्री भारतीय समाज के उन्नत वर्गों का अध्ययन करने वाले थे। यह कोई इत्तफाक नही था कि डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स (W. H. R. Rivers) कलकत्ता मे मानवशास्त्र विभाग के पहले अध्यक्ष नियुक्त किये गये थे,[12] और बंबई में समाजशास्त्र का विभाग, शहरी समाजशास्त्री पैट्रिक जीड्स (Petric Geddes) द्वारा प्रारंभ किया गया था। मानव समाज के कोई भी दो अध्येता, अपने वास्तविक कार्य मे इतने विलग नही थे जितने कि रिवर्स (Rivers) और जीड्स (Geddes)।

परंतु औपचारिक सगठन (set-up) का स्वरूप जो भी हो, मानव सभ्यता और संस्कृति के अध्ययन के वास्तविक विकास ने, भारत मे, पश्चिमी देशों से एकदम ही पृथक् मार्ग का अनुसरण किया। हमने देख लिया है कि फ्रांस मे किस तरह, *आन्ने सोशियोलोजीक* (*Année Sociologique*) द्वारा समाज तथा संस्कृति के सभी अध्ययनों की एकता के प्रयत्नों के बावजूद, मानव-जातिशास्त्र और समाजशास्त्र के मध्य विभाजन ने अपने को प्रभावपूर्ण सिद्ध किया था। दूसरी ओर, भारत मे, समाज-मानवशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने, औपचारिक शैक्षिक सरचना या सेटअप मे इन्हे पृथक् करने के बावजूद, निरतर अपनी भूमिकाओ का परस्पर आदान-प्रदान किया है।

जब हम भारत में समाजशास्त्रियो और समाज-मानवशास्त्रियों द्वारा किये हुए कार्य का परीक्षण करते है, तब इन दो विषयो को विभाजित करने वाली अस्पष्ट और मनमानी रेखा एकदम सामने आ जाती है। वे विद्वान, जिन्होंने भारतीय समाज और सस्कृति को हृदयंगम करने मे सर्वाधिक योगदान किया है, सही अर्थो मे वे ही है जिन्होने भारतीय समाज के आदिम और उन्नत विभागो मे उपखंडीकरण (Compartmentalization) की निरंतर उपेक्षा की है। समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के मध्य विभेद का यथार्थ कारण यही उपखडीकरण है। जहाँ एक बार यह हटा दिया गया, वही यह अंतर नही ठहर पायेगा।

यह एक मनोरंजक तथ्य है कि जी० एस० घुर्ये (G. S. Ghurye) जिनको सभवतः एक भारतीय विश्वविद्यालय मे समाजशास्त्र के प्रोफेसर के रूप मे कार्य करने का सुदीर्घतम और सफल अनुभव प्राप्त है, स्वयं एक मानवशास्त्री डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स (W. H. R. Rivers) द्वारा प्रशिक्षित किये गये थे। घुर्ये की रुचियो

[12] Rivers did not actually join the Department but died shortly before it was formally established.

का क्षेत्र तथा उनके बीच निरंतरता उनके प्रबंधों के संकलन "अन्थ्रोपो-सोशियोलोजिकल पेपर्स"[13] (*Anthropo-Sociological Papers*) में झलकती है।

घुर्ये ने समकालीन भारतीय समाज के सभी वर्गों के अध्ययन को न केवल संचालित एवं प्रोत्साहित ही किया है, उन्होंने पारम्परिक भारतीय सभ्यता की आधारभूत विशिष्टताओं का परीक्षण करने की भी चेष्टा की है। "जातियों" के विभिन्न "अवतरणों"[14] पर लिखी गयी उनकी पुस्तक में ऐसे अध्ययनों का संकलन है, जो ब्रिटेन और अमेरिका में मानवशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों एवं इतिहासकारों द्वारा सामान्यत पृथक्-पृथक् रूप से हाथ में लिये जाते। इस अर्थ में, घुर्ये की पुस्तक *आन्ने सोशियोलोजीक* के नमूने में सटीक बैठती है, केवल इस अंतर के साथ कि फ्रांसीसी समाजशास्त्री सारे ससार के समाजों का अध्ययन कर रहे थे, जब कि घुर्ये ने अपने अध्ययनों को प्रमुखत.—एकमात्र रूप में नहीं—भारत तक ही सीमित रखा था।

हम एन० के० बोस के, *जिनका कलकत्ता के मानवशास्त्रियों में यही महत्वपूर्ण* स्थान है जो बंबई के समाजशास्त्रियों में घुर्ये का है, कार्यों में भी इसी सम्मिश्रण को पाते हैं। जनजातियों में बोस की स्थायी अभिरुचि थी, और यही अभिरुचि पहले उनको कलकत्ता विश्वविद्यालय के मानवशास्त्रीय विभाग की ओर खींच ले गयी थी। इसी अभिरुचि का उन्होंने आगे चलकर एथ्रोपोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया के निदेशक और परिगणित जातियों और परिगणित जनजातियों के आयुक्त के रूप में काफी विकास किया। परंतु भारत के जनजातीय लोगों के अध्ययन के लिए किसी पृथक् शास्त्र की जरूरत नहीं है, यह मानकर उन्होंने उपमहाद्वीप के जनजातीय और अ-जनजातीय लोगों के बीच की आवश्यक समानताओं और निरंतरताओं पर जोर दिया और चूंकि वे वैज्ञानिक विधियों की एकता पर जबर्दस्त विश्वास करते थे इसलिए उन्होंने एक ही विधि को भारतीय समाज के सभी "खंडों"—आदिम वर्गों और उन्नत वर्गों—के अध्ययन के लिए प्रयुक्त किया।

समकालीन भारतीय समाज के जो विश्लेषण बोस ने प्रस्तुत किये वे क्षेत्रीय कार्यों के महत्वपूर्ण समूहों पर आधारित थे। उनका विश्वास था कि मानवशास्त्र एक क्षेत्र-विज्ञान है, और उन्होंने सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन के लिए प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण पर बुनियादी ज़ोर दिया था। उनका क्षेत्र-कार्य, समकालीन ब्रिटिश और अमेरिकन मानवशास्त्रियों के क्षेत्र-कार्य से जरा भिन्न है। उन्होंने "गहन" क्षेत्र-कार्य की तुलना में, विस्तृत क्षेत्र-कार्य को वरीयता दी, और उनकी धारणा थी कि उस भारतीय समाज-वैज्ञानिक की जरूरतों को पूरा करने के लिए

[13] G. S. Ghurye, *Anthropo-Sociological Papers*, Popular Prakashan, 1963.

[14] Originally published as *Caste and Race in India*, Routledge and Kegan Paul, 1932.

यह अधिक उपयुक्त है, जो अपने ही समाज के भिन्न-भिन्न खडों का अध्ययन कर रहा हो। इसने बोस को अपने क्षेत्र-कार्य को एक ऐसे व्यापक क्षेत्र मे फैलाने मे मदद दी, जिसके एक छोर पर उडीसा की जुआड जनजाति का अन्वेषण है और दूसरे छोर पर कलकत्ता महानगर का विस्तृत सर्वेक्षण।[15]

बोस के अध्ययन की बनावट, उनकी पुस्तक *हिंदू समाजेर गारान*[16] मे पूर्णता के साथ झलकती है। इसमे मानव-जाति-विज्ञान, समाजशास्त्र और भारत-विद्या के परिप्रेक्ष्यों का सम्मिश्रण उद्घाटित होता है। बोस की यह पक्की राय थी कि भारतीय समाज के किसी भी एक अग को पूर्णत: समझने के लिए, उसके और सपूर्ण समाज के सबधो को देख लेना चाहिये। इसलिए, पहाडों मे जनजातियो का अध्ययन मैदानी क्षेत्रो की जातियो के अध्ययन को अपने में शामिल करता है, ठीक वैसे ही जैसे कि गाँवो मे जातियो का अध्ययन नगरो के "वर्गो" के अध्ययन की ओर ले जाता है।

दृष्टिकोणो की यही एकता अगली पीढी के भारतीय विद्वानो—विशेषत. एम० एन० श्रीनिवास, एस० सी० दुबे और रामकृष्ण मुखर्जी—के अध्ययनो और काम मे भी देखी जा सकती है। श्रीनिवास ने, पहले घुर्ये और फिर रैडक्लिफ-ब्राउन का शिष्य होने के नाते, समाज-मानवशास्त्र और समाजशास्त्र की एकता पर निरतर जोर दिया है।[17] दुबे और मुखर्जी, दोनो मानव-विज्ञान के विभागो मे प्रशिक्षित हुए, परंतु उन दोनों ने अपने आपको उन समस्याओ मे लगा दिया, जिन्हे पश्चिम मे समाजशास्त्रीय समस्याएँ कहा जाता है। दुबे ने अधिकार तत्र, सचार और आम सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन किया है।[18] मुखर्जी ने, भारतीय समाज के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन के लिए, परिष्कृत, परिमाणवाचक तकनीकों का प्रयोग किया है।[19] इसके पूर्व उन्होने ब्रिटेन में सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन मे भी योगदान दिया था।[20]

[15] His Juang work is described in several of his Bengali and English writings, e.g. *Cultural Anthropology*, Asia, 1961, and *Culture and Society in India*, Asia, 1967; his Calcutta survey was published as *Calcutta 1964, A Social Survey*, Lalvani, 1968.

[16] Available only in its original Bengali version published by Vishwabharati Granthalaya, 1356 (Bengali calendar)

[17] His approach is best exemplified in his *Caste in Modern India and Other Essays*, Asia, 1962.

[18] See, for instance, his most recent book, *Explanation and Management of Change*, Tata McGraw-Hill, 1971.

[19] See, for instance, his *The Sociologist and Social Change in India*, Prentice-Hall of India Ltd , 1965.

[20] D. V. Glass (ed), *Social Mobility in Britain*, Routledge and Kegan Paul, 1954.

कोई विवेकी विचारशील इतिहासकार, आज के सौ वरस बाद शायद अचरज से लिखे कि भारत में समाज और संस्कृति के विद्यार्थी, पहले समाज-मानवशास्त्र और समाजशास्त्र मे अतर "बैठा" देते है और इसके उपरांत प्राय. विधिवत् उस विभेद को भग कर देते हैं। हमने यह पहले ही देख लिया है कि इस "अंतर" का उद्‌भव भारत में नही हुआ था, वरन् यहां इसे बाहर से लाया गया था। अब हमें उन विशेष कारणों को जाँच लेना चाहिए जो इस अंतर को भारतीय स्थितियों में अव्यवहार्य बना देते है। केवल तब ही हम यह पूछ सकने की स्थिति मे हो सकते हैं कि यह अंतर तर्कसंगत है या नही।

समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र (या सांस्कृतिक मानव-विज्ञान या मानव-जाति-विज्ञान) के मध्य अतर, विश्व के द्विभागीय दृष्टिकोण पर पनपता है। श्वेत और नेटिव, सभ्य और आदिम, हम और वे, यही ऐतिहासिक रूप से पश्चिमी राष्ट्रों में दोनों के बीच किये गये विभेद का आधार रहा है। परंतु जिस भाँति भारतीय समाज का निर्माण हुआ है, उसमें इस प्रकार का द्विभागीय विभेद उत्पन्न होने-पनपने का बहुत कम आधार पा सकता है।

अमेरिका और आस्ट्रेलिया के विपरीत भारत मे जनजातीय और अ-जनजातीय समाजो का अंतर धुंधला, अस्पष्ट और अंततः मनमाना है। यदि हम पाठ्य पुस्तकों के अनुसार चलते हैं, तो हमें ऐसे अनेक समूहों को ढूंढने मे कठिनाई होगी जो मानवशास्त्रियों द्वारा निर्धारित जनजातियों की परिभाषा के सदृश या अनुरूप हो।[21] संथाल, ओरांव, भील और गोंड सदृश बड़ी जनजातियां निश्चयतः उन जातियों से बहुत भिन्न है जिनका अध्ययन मानवशास्त्रियों ने अमेरिका और आस्ट्रेलिया में किया है। बेशक, यद्यपि उनके अपने विशिष्ट, पृथक् रीति-रिवाज थे, परंतु भारत में न केवल जनजातियों को ही वरन् सभी समुदायो को विशिष्ट प्रथाएं और रीति-रिवाज अपनाने के लिए एक प्रकार से प्रोत्साहित किया गया था।

अपेक्षाकृत बड़ी जनजातियां स्थायी कृषि-कार्य करती है। गैर-जनजातियों की तुलना मे उनकी कृषि की तकनीक अधिक पिछड़ी है और उनके द्वारा जोती जाने वाली भूमि कम उर्वरा है। दूसरे ढग से मनुष्यो की इन दो श्रेणियो मे, उनकी आजीविका अर्जित करने के साधनों और आर्थिक संगठनों की दृष्टि से, काफी आधारभूत समानता है। स्पष्टत उस व्यक्ति को जिसने छोटा नागपुर मे एक ओरांव ग्राम का अध्ययन किया है, वीरभूमि जिले के किसी सवर्ण हिंदू ग्राम का अध्ययन करते समय अपने अध्ययन के स्वरूप को बदलने की कोई भी आवश्यकता नही पड़ेगी। वास्तव मे इस बात की काफी सम्भावना है कि उसे सामान्यत छोटा नागपुर के

[21] For a good example of this see Marshal D. Sahlins, *Tribesmen*, Prentice-Hall, 1968.

गाँवो मे कुछ अ-जनजातीय लोग भी मिले और वीरभूमि के गाँवो मे कतिपय जन-जाति के लोग भी दीख पड़े।

भारत मे शताब्दियों से जनजातीय लोग सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से भारत के गैर-जनजातीय लोगों के साथ जुड़े रहे हैं। यह सुदूर-स्थित पर्वतीय जनजातियो के लिए भी सत्य है, यद्यपि उनके मामले मे ये बधन सामान्यतः न्यूनतर थे और सदा प्रत्यक्ष नही थे। जो बात एन० के० बोस स्थापित करना चाहते थे, वह अब सब पाठकों के लिए स्पष्ट हो गयी होगी—कि जुआङ, मुडा, ओरॉव, तेली, लुहार, जुलाहे और खेतिहरो मे जो अतर है, वह केवल "कोटि" का अतर है, "प्रकार" का अतर नही है। हम वास्तव मे, व्यवहार के लिए "जुआङ", "मुडा" और ओरॉव को अन्यो से विभाजन-रेखा खीच कर पृथक् कर सकते हैं, परतु यह हमे हमेशा स्मरण रखना चाहिए कि यह विभाजन-रेखा मनमाने ढंग से खिंची होगी, और केवल उसी उद्देश्य के लिए महत्व रखेगी, जिसके लिए कि वह खीची गयी है।

परतु यदि हम एक सीमा के निकट रेखा नही खीच सकते है तो क्या हम उसे दूसरी सीमा के निकट खीच सकते है—एक ऐसी रेखा, जो हमारे उभरते हुए शहरी औद्योगिक समाज को उस सब से पृथक् कर दे, जो कि पारम्परिक साँचे मे ढला है? क्योंकि, निश्चय ही, समाजशास्त्री अपनी "दिलेरी" का परिचय ग्रामीण समाज—भले ही वह जनजातीय हो अथवा गैर-जनजातीय—का अध्ययन करके नही, वरन् शहर मे, औद्योगिक जीवन की दुरूहताओं का अध्ययन करके देना चाहेगा। हमे देखना चाहिए कि भारतीय शहर एक सर्वथा पृथक् अनुसंधान का क्षेत्र तो प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं, जिसके लिए एक पृथक् दृष्टिकोण, एक पृथक् विधि, पृथक् तरीके और पृथक् परिकल्पनाओं और विचारों—सक्षेप मे एक पृथक् विद्या या शास्त्र की जरूरत पड़ जाये?

परतु, फिर, हम भारत मे शहरी और ग्रामीण जीवनो के बीच निरतरता से प्रभावित हुए बिना नही रह सकते—शहरी परिवार और ग्रामीण परिवार, शहरी राजनीति और गाँव की राजनीति, स्तरीकरण के शहरी और ग्रामीण पैटर्नों के बीच की निरंतरता। सब कुछ कहने के बावजूद, अचरज तब होता जब इसका विपरीत होता, क्योकि भारत मे शहर और ग्राम पिछले दो सहस्र वर्षों से साथ-साथ रह रहे है। और यदि औद्योगीकरण नये सामाजिक प्रबध या व्यवस्था को उत्पन्न करता है—जो कि वह नि.सदेह करता है—तो यहाँ भी अतर केवल "कोटि" का है, "प्रकार" का नही। यही कारण है कि एन० के० बोस या डी० एन० मजूमदार जैसे अनेक समाजशास्त्रियों को, जिन्होने अपना कार्य ग्रामीण भारत के अध्ययन से प्रारंभ किया था, अपना ध्यान कभी-न-कभी शहरी भारत की ओर मोड़ना न्यायसगत और स्वाभाविक लगा। यदि हम भारत मे शहरी समाजशास्त्र के लिए

कोई अधिक कुशल प्रणाली विकसित करना चाहते है, तो हमे इन्ही शुरुआतो से चलना पड़ेगा।

हमने पहले देख लिया है कि पश्चिम मे, आदिम और विकसित समाजो के छात्रों के बीच समाज (या सास्कृतिक) मानवशास्त्र और समाज-विज्ञान के मध्य शैक्षिक विभेद के रूप मे निश्चित कार्य-विभाजन स्पष्ट हो गया है। भारत में, इस अतर के औपचारिक रूप में स्वीकृत किये जाने पर भी, कार्य का वास्तविक नमूना या पैटर्न समाज की और सस्कृति की एकता पर जोर देने को प्रवृत्त होता है। काम के इन दो नमूनो या पैटर्नों मे कौन अधिक तर्कसगत है ?

सर्वप्रथम तो यह कहना चाहिए कि जिस विषय पर हम विचार कर रहे है वह सिद्धान्तों पर मत-वैषम्य का कम और काम के "पैटर्नों" के अतर पर ज्यादा है। काम के यथार्थ पैटर्नों के अतरो पर भी जरूरत से ज्यादा जोर नही देना चाहिए। अमेरिकी समाजशास्त्री लायड वार्नर (Lloyd Warner) जो रैडक्लिफ-ब्राउन के शिष्य थे, का मामला यदि विशिष्ट नही, तो शिक्षाप्रद अवश्य है। उन्होंने पहले मुर्नगिन (Murngin) नामक आस्ट्रेलियन जनजाति का अध्ययन किया, और तब उस क्षेत्र मे मिले सबको को न्यूबरीपोर्ट (Newburyport) नाम के आधुनिक अमेरिकी नगर के अध्ययन में प्रयुक्त किया।

और भी हाल के समय मे, इर्विंग गोफमैन (Erving Goffman) जो मानव-शास्त्र के क्षेत्र से समाजशास्त्र के क्षेत्र मे आये थे, तुलनात्मक अभिगम के शानदार तथा जबर्दस्त व्यवहारकर्ता हैं। सयुक्तराज्य अमेरिका और ब्रिटेन दोनो देशो मे ऐसे उदाहरणो की वृद्धि आसानी से की जा सकती है। परंतु, जो बात वास्तविक महत्व की है, वह यह है कि जितनी ही बारीकी से हम इस विषय का परीक्षण करते है मानव समाजो और संस्कृतियो के क्षेत्र मे अनुसधानों की दो श्रेणियों के मध्य, किसी भी तर्कसगत आधार पर, विभाजन रेखा खीचना उतना ही कठिन होता जा रहा है।

नि.संदेह, यह दलील तो चलती ही रहेगी कि क्या समाजशास्त्र की एक "एकीकृत" विधा विशेष होनी चाहिए या समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र की दो पृथक्, परंतु परस्पर संबंधित विशेष विधाएं होनी चाहिए ? जो विद्वान एक विशेष एकीकृत विधा पर जोर देते हैं, वे इस बात पर सहमत होंगे, कि विभिन्न समाजों के अध्ययनो के लिए अनुसधान और विश्लेपण की विभिन्न तकनीकों की आवश्यकता पड़ेगी। और जो यह मानते हैं कि हमारे चरम उद्देश्यों और लक्ष्यों के बावजूद, दो पृथक् विषय यथार्थ मे विद्यमान हैं और उन्हें विद्यमान बना रहना चाहिए—अपनी बारी मे इसको अवश्य स्वीकार करेंगे कि इन दोनो के मध्य अत्यंत निकट सबंध हैं।

मेरा अपना निजी मत यह है कि हम चाहे समाज-मानवशास्त्र और समाज-शास्त्र को एक ही विषय मानें, अथवा एक ही विषय (शास्त्र) की दो शाखाएँ मानें या दो पृथक् विषय समझें, यह सब अंततः इस बात पर निर्भर करता है कि हम मानव समाज और मानव संस्कृति की विविधताओं पर क्या सोचते हैं। यदि हमें यह लगता है कि उनकी समानताएँ उनकी विषमताओं की तुलना में अधिक मौलिक हैं तो हम समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र की एकता को स्वीकार करने के लिए अधिक राजी होंगे। यदि इसके विपरीत हम यह सोचते हैं कि उनकी विषमताएँ, उनकी समताओं की तुलना में अधिक मौलिक है, तो हम इन दो विषयों (शास्त्रों) के मध्य के अंतर को स्वीकार करने के लिए अधिक तैयार होंगे। मैं इस बात को मानने के लिए तैयार हूँ कि प्रथम बात को स्वीकार करने के लिए —दूसरी बात की तुलना में कोई ज्यादा वैज्ञानिक औचित्य नहीं है; अंततः यह मूल्यों का प्रश्न है।

2

कृषक वर्गों पर हुए अध्ययन और उनका महत्व

कृषक समुदायो या व्यापक अर्थों में किसान वर्ग का अध्ययन, आज समाज-शास्त्रियो तथा समाज-मानवशास्त्रियों के लिए प्रमुख महत्व का विषय है। इस अर्थ में उनकी वर्तमान रुचि का क्षेत्र, सौ वर्ष पूर्व की तुलना में कुछ पृथक् है। समाजशास्त्री तथा समाज-मानवशास्त्री अपने अध्ययन का आरभ एक ओर तो जटिल औद्योगिक समुदायो के अध्ययन से और दूसरी ओर आदिम जनजातियो के अध्ययन से करते है। कृषक वर्ग के अध्ययन क्षेत्र मे प्रवेश कर, ये मानव समुदाय और उसके प्रकारो के अपने अनुसंधानो को यदि पूर्ण नही, तो अपेक्षाकृत अधिक व्यापक बनाना चाहते है।

मानवसमाज के अध्येताओं ने न केवल अध्ययन का एक नवीन क्षेत्र ढूंढ निकाला है वरन् एक ऐसे क्षेत्र को ढूंढा है, जो उनसे यह अपेक्षा करता है कि वे अपने मानव-विज्ञान और समाजशास्त्र के पारम्परिक कौशल को मिला दे। तुलनात्मक समाज-शास्त्र की दृष्टि से, कृपको की एक दिलचस्प विशिष्टता यह है कि एक ओर तो उनके बीच बंधुता और विवाह की सुनियोजित व्यवस्था है और दूसरी ओर, ये कृपक गण स्तरीकरण और वर्गीकरण की दुरूह व्यवस्था के अंग है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, समाज-मानवशास्त्रियों ने बधुत्व और रिश्तेदारी प्रथा या व्यवस्था के अध्ययन पर विशेप ध्यान दिया है। ऐसा भी नही है कि उन्होंने अन्य सस्थात्मक पद्धतियों का अध्ययन न किया हो। परतु, इन अध्ययनों को उन्होंने आरंभ से ही कुछ सीमा तक दूसरो के सहयोग से किया है, जबकि बंधुत्व और रिश्तेदारी का एक ऐसा क्षेत्र है, जिसका अध्ययन उन्होने स्वतन्त्र रूप से किया है। समाज-विज्ञान ने अपने सकुचित अर्थो मे, परिवार प्रणाली के

सीमित क्षेत्र के बाहर विवाह और रिश्तेदारी के योजनाबद्ध अध्ययन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया था। इसका कारण खोजने के लिए दूर नहीं जाना पड़ेगा। उन्नत औद्योगिक समाजो या समुदायों के अध्ययन के लिए रिश्तेदारी और वैवाहिक गठबधनो के सबधो के विस्तृत अध्ययन की अपेक्षा नही की जाती, क्योकि इन समुदायो मे ऐसे संबध अत्यत सीमित होते है। इसके दूसरी ओर, "आदिम" जन-जातीय समुदायो का अध्ययन, बधुत्व पद्धति के, जो कि इस प्रकार के समुदायो के लिए आधारभूत परिरूपो को जुटाती है, विश्लेषण की अपेक्षा करता है।

अब, रिश्तेदारी तथा बधुत्व की प्रणाली, यद्यपि यह समस्त समुदाय पर लागू नही होती, कृषको के सामाजिक जीवन मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इसका कोई भी विश्लेषण तब तक पूरा नही होगा, जब तक वह रक्त और विवाह के बधनों के अनुसार सामाजिक भूमिका के विभेदीकरण के विस्तारो पर नही जाता। भारत मे, कृषक सामाजिक सगठन के अध्येता को, भले ही उसकी विशेष अभिरुचि का क्षेत्र कुछ भी हो, वशावली के सदृश सामूहिक गुटो की सरचना पर और *सपिंडों, सजातीयो और सबधियो के मध्य अतर्व्यक्तिगत सबंधों के स्वरूप पर* विचार करना चाहिए। साम्यवाद-पूर्व के चीन के लिए यह और भी स्पष्ट बात है; चीन मे कृषक-समुदायो के उपलब्ध अध्ययन, वास्तव मे, जाति, वशावली और सबंधों को विशिष्ट स्थान देते है।

यदि सबंधो और विवाह के अध्ययन ने पारम्परिक मानवशास्त्र को उसके विशिष्ट महत्व प्रदान किये है, तो शास्त्रीय समाज-विज्ञान ने अपना विशिष्ट स्वरूप, स्तरीकरण और वर्गो के अध्ययन से उपलब्ध किया है। यहाँ एक बार फिर कह दे कि ऐसा कहने का यह अर्थ नही है कि समाजशास्त्रियों की अन्य अभिरुचियाँ नही है, परतु केवल यही कहना चाहते है कि शास्त्रीय समाजशास्त्र को अन्य शास्त्रों और विधाओ और विशेषत: मानवशास्त्र से जो पृथक् करता है वह उसका असमानता की समस्याओ मे व्यस्त और उलझे रहना है। यह देखना कठिन नहीं है कि समाजशास्त्रियों ने क्यो वर्ग और स्तरीकरण पर इतना ध्यान दिया है और क्यो सामाजिक मानवशास्त्रियो ने उनकी उपेक्षा की। समाजशास्त्र मुख्यत: पश्चिमी औद्योगिक समाजो के अध्ययन के माध्यम से ही एक शास्त्र या विधा बन सका है। ये समुदाय या समाज, जिन्होने बड़ी सख्या मे समाजशास्त्रियो की अभि-रुचियों को आकृष्ट किया था, उन समुदायो से भिन्न थे जिनका अध्ययन मानव-शास्त्रियो ने किया था, और जिनमें ऐसे गुट या श्रेणियाँ विद्यमान थी जो सुस्पष्ट रूप से संयोजित थीं और जिनमे परस्पर हितो के प्रत्यक्ष द्वद्व थे। समाजशास्त्री, वर्ग और स्तरीकरण को उसी तरह भुला नही सकते थे, जिस प्रकार मानवशास्त्री सबधो तथा विवाह को।

कृषक-समुदाय के अध्ययनों में न केवल संबंधों और विवाह का विश्लेषण

शामिल है, वरन् इनके लिए स्तरीकरण और श्रेणी (वर्ग) की "पकड़" होना भी जरूरी है। सबसे पहले किसान आतरिक रूप से आमदनी और अपनी जमीन की मिल्कियत के आधार पर गरीब, मध्यवर्गीय और समृद्ध किसानों के रूप मे उप-विभाजित है। भारत मे इसके अतिरिक्त उन्हें भिन्न-भिन्न जातियों मे भी विभाजित किया जा सकता है। परतु जो बात अपेक्षाकृत रूप से अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि श्रेणियों और स्तरों की दुरूह पद्धति वाले समाज में वे (कृषक) केवल एक स्तर या श्रेणी हैं। कृषक वर्ग के बारे मे हमारा ज्ञान तब तक अधूरा रहेगा जब तक हम उसे एक ऐसे परिप्रेक्ष्य मे न देखें जिसमे एक ओर कुछ न करने वाले जमींदार हैं और दूसरी ओर जमीन से बेदखल हुए मजदूर है।

समाजशास्त्रियों और समाज-मानवशास्त्रियों द्वारा कृषक समुदायों का अध्ययन हाल ही के समय का है। पूर्णविस्तार के प्रथम समुदाय-अध्ययन द्वितीय विश्वयुद्ध के ठीक पूर्व प्रकाशित हुए थे, और केवल पिछले दो दशकों में उन्हे वर्तमान महत्ता उलब्ध हुई है। पश्चिम के देशों के समाज-मानवशास्त्रियों मे, कृषक वर्ग के अध्ययन आहिस्ता-आहिस्ता उस स्थिति को उपलब्ध करने लगे हैं, जो युद्ध-पूर्व वर्षों में जनजातियों के अध्ययन को प्राप्त थी। समकालीन पश्चिमी विद्वानों की कृषक वर्ग में अभिरुचि का कुछ भाग, तीसरी दुनिया के बढ़ते हुए महत्व के बोध से पोषित होता है। भारत, चीन, अफ्रीका एव लातिन-अमेरिका के देश ही युद्ध के अत तक केवल इतिहासकारों तथा नृजाति वर्णन करने वाले विद्वद्जनों या ऐसे विद्वानो के लिए, जो अतीत या वर्तमान में प्रचलित अविख्यात रीति-रिवाजों का लेखा-जोखा करते है, रुचि के विषय थे। परंतु उपनिवेशवादी युग के समाप्त होते ही, इन देशो ने समस्त विश्व मे अपेक्षाकृत कहीं अधिक तात्कालिक समकालीन प्रासगिकता प्राप्त कर ली है। तब यह तर्कसगत ही है कि पश्चिमी देशों के अनेक समाजशास्त्री यह सोचने लगे है कि इन देशों के लोगों को समझने का सबसे अच्छा तरीका उनके कृषक समुदाय की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओ के विषय मे अनुसधान करना है।

कृषक सप्रदायो का अध्ययन, तृतीय विश्व मे आत्म-जागरूकता और चेतना प्रक्रिया का अग भी है। एशियाई, अफ्रीकी और लातिन-अमेरिकी देश अब सामाजिक अनुसधान के लिए उन्नत देशों के विद्वानो पर ही पूर्णत: निर्भर हैं। ये देश अब अपने ही समाजशास्त्री उत्पन्न कर रहे हैं, जिनके लिए कृषक समुदाय का अध्ययन, स्वाभावत: एक महत्वपूर्ण कार्य है। इस क्षेत्र के व्यावहारिक और सैद्धातिक दोनों पक्ष है। व्यावहारिक पक्ष मे, यह विकास और आधुनिकीकरण के कार्यक्रमो से गहरे रूप मे जुड़ा हुआ है। कृषक समुदाय को शताब्दियो से रूढ़िवादी और पिछड़ा वर्ग कहा जाता रहा है। तीसरी दुनिया के देशों की अधिकांश आर्थिक और सामाजिक रूढ़िवादिता और पिछड़ेपन के लिए दीर्घकाल से कृषक वर्ग को

सहजात या अतर्जात विशिष्टताओं को उत्तरदायी ठहराया जाता रहा हैं। जब ये देश विकास और आधुनिकीकरण के कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने की दिशा में अग्रसर होते है तो उनके जीवन की स्थिति को बदलने के लिए सबसे प्रभावपूर्ण साधनों को खोजना आवश्यक हो जाता है। चीन और भारत, दोनों देशों में ग्राम-सुधार कार्यक्रमों ने कृपक समुदायों के अध्ययन के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण काम किया है।

हाल के समयों मे, कुछ विशेष क्षेत्रों मे कृपक समुदाय की कुछ दूसरी ही छवि उभर कर आयी है। तीसरी दुनिया मे क्रातिकारी सभावनाओं का वास्तविक पात्र कृपक समुदाय को माना जाता है। उस रूढिवादी छवि के विरुद्ध, इस छवि को क्रांतिकारी कहा जा सकता है। यहाँ कोई भी वडी क्राति कृपक वर्ग की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति पर आधारित होनी चाहिये। इसी कारण से, लातिन अमेरिका और एशिया मे कृपकों का जीवन, कृपक आदोलन एव सगठन आदि अनुसधान के महत्वपूर्ण विषय बनते जा रहे है। यह कहना अनावश्यक है कि ये विषय क्रातिकारी परिवर्तनों के समर्थकों तथा "क्रातिकारी रोग निरोधन" के विशेषज्ञों—दोनों के लिए महत्व और दिलचस्पी वाले बन जाते है।

कृपक अध्ययनों के क्षेत्र को जरा अस्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया है। अशतः तो इसलिए कि यह क्षेत्र तुलनात्मक रूप मे नया है, और अशत इसलिए कि इसको समझने के तरीके बहुविध और अनेक है। आर्थिक प्रक्रियाओं और सामाजिक सगठनों के विद्यार्थियो के पास इस समस्या के—कुछ दूसरी तरह के—यद्यपि आवश्यक रूप से विरोधी नही—परिप्रेक्ष्य है। "कृपक-अर्थ-व्यवस्था" की परिकल्पना जिसे शायोनोव (Chayonov) तथा उसके सहविचारक वर्ग ने विकसित किया था, अब कृपक समुदाय का अध्ययन करने वाले समकालीन छात्रों द्वारा पुनर्जीवित की जा रही है।[1] जरा भिन्न अनुकूलन उन समाज-मानवशास्त्रियों की सामान्यताओ मे पाया जाता है, जिनकी "कृपक समाज तथा सस्कृति" के अध्ययन मे अभिरुचि है।

अनुकूलनों के इन पार्थक्यों के साथ मेल खाने वाली परिकल्पनाओ के प्रयोगो के भेद भी है। यहाँ तक कि समाजशास्त्रियों और समाज-मानवशास्त्रियों में "कृपक वर्ग" (Peasantry), "कृपक" (Peasant) और "कृपक समाज" (Peasant Society) जैसे शब्दों के अर्थों के विषय मे सामान्य सहमति नही है।[2] मानवशास्त्री कभी-कभी "कृपक समाज" (Peasant Society)। शब्द को एक

[1] See, for instance, A. V. Chayanov, *The Theory of Peasant Economy*, edited by Daniel Thorner, B. Kerblay and R. E. F. Smith, Irwin, 1966.

[2] For a recent discussion see Teodor Shanin (ed.), *Peasants and Peasant Societies*, Penguin, 1971, particularly the Introduction

अवशिष्ट श्रेणी के रूप में प्रयुक्त करने को प्रवृत्त हो जाते है, जहाँ वे उन सभी प्रकार के समाजो को एकत्रित रख देते है, जो न तो स्पष्टत "जनजातीय" हैं और न साफ तौर पर "औद्योगिक"। यह जरा उलझन पैदा करने वाला है, क्योंकि सारे विश्व के "कृषको" मे कुछ समान विशिष्टताएँ हो सकती हैं, परन्तु तथाकथित "कृषक समाज" तो एक-दूसरे से अत्यंत भिन्न है। इन प्रश्नो की चर्चा तृतीय अध्याय मे करनी पडेगी। सभवत अभी कुछ समय के लिए कृषि-कार्य करने वाले समुदायों और न कि "कृषक" समाजो पर विचार किया जाय, और जहाँ कही भी इस विस्तृत श्रेणी के अंतर्गत वे आते हैं—वहाँ कृषक सप्रदायों की चर्चा की जाये।

कृषक समुदायों के अध्ययन ने, अपनी सीमाओं और अस्पष्टताओ के बावजूद, समाजशास्त्र और मानवशास्त्र मे अपना स्थान बना लिया है। वास्तव में, एशियाई देशों मे इन्ही अध्ययनो के कारण समाज के शास्त्र को अपना वर्तमान स्वरूप मिला है। कृषक वर्ग के अध्ययन पर अपने को आधारित कर, इन देशो में सामाजिक जीवन के अध्येता समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र के बीच व्याप्त अंतर को, जिसने कि युगों से पश्चिमी विद्वानों को परेशान कर रखा है, बाद दे सकते हैं।

सारे विश्व से बड़ी सख्या मे प्राप्त कृषक समुदाय के अध्ययन हमारे पर्यवलोकन को फलीभूत बना सकते है। हम इस विचार से शुरू करेगे कि वे कौन-सी परिस्थितियाँ थी, जिनमे समाजशास्त्रियों एव समाज-मानवशास्त्रियो द्वारा कृषक वर्ग के अध्ययन प्रारभ किये गये थे। उसके उपरात हम विशेषकर एशियाई देशो में हुए इन अध्ययनों से प्राप्त महत्वपूर्ण तथ्यो पर चर्चा करेंगे। इस क्षेत्र में किये गये भारतीय और चीनी अध्ययनों की तुलना करके हम बहुत कुछ सीख सकते है। यूरोपियन कृषक वर्गों के समान अध्ययन पर सक्षिप्त चर्चा करके हम इसका समापन करेंगे।

समाज-मानवशास्त्रियो के मन मे कृषि समुदायो के अध्ययन के प्रति अभिरुचि जगाने के लिए अनेक बौद्धिक धाराएँ उत्तरदायी है। इस विधा या शास्त्र की दृष्टि से रेडफील्ड (Redfield) और उनके सहयोगियों का काम सर्वथा बेजोड़ हैं। रेडफील्ड ने मानवशास्त्र को अमेरिका में न केवल एक नवीन दिशा दी, अपितु लातिन-अमेरिका, भारत और कुछ हद तक चीन में काम करने वाले मानवशास्त्रियों के काम को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। ब्रिटिश मानवशास्त्रियो ने कुछ समय के लिए इस नवीन विचारधारा का प्रतिरोध किया, परंतु हाल के समय में कृषक संप्रदायों के अध्ययन ने उनके कार्य मे अधिकाधिक महत्व ले लिया है।

तिपोजतलान (Tepoztlan) पर रचित रेडफील्ड की पुस्तक,[3] आधुनिक मानवशास्त्रीय शोधकार्य की तकनीकों के प्रयोगों की सहायता से किया गया कृषि समाज का प्रथम पूर्ण विस्तृत अध्ययन है। इस शताब्दी के तीसरे दशक में, रेडफील्ड ने मेक्सिकी सम्प्रदायों के और भी अनुभवजन्य अध्ययन किये और अपने अमेरिकन सहकर्मियों के बीच एक नवीन प्रवृत्ति को रखा। मानवशास्त्रियो को यह समझने में अधिक समय नही लगा कि उनके सामने एक विस्तृत अनखोजा क्षेत्र पड़ा है, और रेडफील्ड ने विशेष अनुकूल अवसर पर उनका ध्यान आकृष्ट किया, जब सयुक्त राज्य के भीतर "जनजातीय" अध्ययन अधिकाधिक पूर्ण हो रहे थे।

रेडफील्ड और उनके सहकर्मियो की कृतियो ने मानवशास्त्र की एक नवीन छवि उभार दी। अब मानवशास्त्र को "सनकमिजाजों द्वारा फुटकर सामग्री के अनुसंधान" कह कर नही पुकारा जा सकता था।[4] यह भी सच है कि मेलिनोव्स्की (Malinowski) और उनके सहयोगियों की कृतियो ने जनजातीय समाजों के अपेक्षाकृत यथार्थवादी और स्वाभाविक मूल्यांकन का पथ प्रशस्त कर दिया है। परंतु ये समुदाय तब भी इतने कटे-फटे और दूरस्थ थे कि अमेरिका, यूरोप और एशिया में बुद्धिजीवियो पर केवल मोहक प्रभाव डाल सकते थे। कृषि समुदायो के अध्ययन ने मानवशास्त्र को तीसरी दुनिया मे समाज और सस्कृति के सभी छात्रो की दहलीज पर रख दिया है।

कृषि संप्रदायो के अध्ययन ने मानवशास्त्र को विश्व की जनसंख्या के महत्वपूर्ण भाग तक ही सहज पहुँच नही दे दी है, वरन् इसने सभ्यता को समझने के लिए नये दृष्टिकोण भी खोल दिये है। क्षेत्र अनुसंधान और साहित्यिक अध्ययन पृथक् और सुस्पष्ट गतिविधियाँ बन गयी थी। मानवशास्त्रियो ने जनजातीय संप्रदायो का खेतों मे अध्ययन किया। वे संप्रदाय एकाकी व आत्मनिर्भर थे और अपने अतीत के विषय मे उनके पास कोई लिखित सामग्री नही थी। इतिहासकारो ने अतीत से चले आ रहे साहित्यिक साधनो का परीक्षण कर सभ्यताओं का अध्ययन किया। कृषक संप्रदायों का खेतों में अध्ययन करने की जरूरत थी; परतु वे एक और बड़ी सभ्यता के अग थे जिसको समझना अनुसधान को पूरा करने के लिए जरूरी था।

. स्वय रेडफील्ड की कृतियों में नवीन अनुभवजन्य सामग्री का बटोर था। इन कृतियो ने कृषक सामाजिक संरचना के स्वरूप और बाह्य ससार से उसके संबंधो को सहज और अतकनीकी शब्दों मे जाहिर किया है। इन कृतियो ने मेक्सिकी

[3] Robert Redfield, *Tepoztlan, a Mexican Village: A Study of Folk Life*, University of Chicago Press, 1930

[4] Clyde Kluckhohn, cited in Max Gluckman, *Politics, Law and Ritual in Tribal Societies*, Basil Blackwell, 1965.

कृपकों की धारणाओं, मूल्यों और दृष्टिकोणों का जीवत चित्र प्रस्तुत किया है। रेडफील्ड के अनुभवजन्य काम का सर्वोच्च गुण यह था कि उसमें जनजातीय, कृपक और शहरी सप्रदायो से प्राप्त सामग्री एकत्र की गयी थी।[5] ऐसा करने से वे कृपक सप्रदायो के अध्ययन को समाज-मानवशास्त्र और समाजशास्त्र की पारम्परिक अभिरुचियो के साथ जोड़ देने मे समर्थ हो गये।

रेडफील्ड ने अपनी अनुभवजन्य कृति को आकर्षक सैद्धांतिक प्रारूप मे प्रस्तुत किया था। "लोक-शहरी सातत्यक" की परिकल्पना ने उन्हें विशेष महत्वपूर्ण, निर्णायक स्थलो का सूक्ष्म परीक्षण करके समस्त मेक्सिकी समाज को देखने (समझने) मे सहायता दी। दूरस्थ जनजातीय सप्रदाय, कृपक ग्राम, छोटे कस्वे और बड़े शहरी केंद्र, प्रत्येक से पारिवारिक समानता रखते थे, परंतु वे सांस्कृतिक और संरचनात्मक दुरूहता के विभिन्न प्रकारों को दर्शाते थे।[6] मानवशास्त्री को एक ही समय मे कृपक संप्रदायो को अध्ययन करने की विधि और विभिन्न सप्रदायों को एक प्रारूप विधा प्रदान की जा रही थी। इस प्रारूप विधा को रचने के लिए, रेडफील्ड ने टोनीज (*Tonnies*), दुर्खीम (*Durkheim*) और मैन (*Maine*) सदृश उन्नीसवी शताब्दी के समाजशास्त्रियों की कृतियो से बहुत कुछ प्राप्त किया है।

रेडफील्ड ने अपनी बाद की रचनाओ को सामान्य रूप से छोटे संप्रदाय की ओर विशेषत. कृपक सप्रदाय की चर्चा मे लगाया है। उनके द्वारा कृपक समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक विशिष्टताओ का किया गया विश्लेषण ठीक ही प्रसिद्ध हो गया है। अपनी अंतिम पुस्तक "पीजेंट सोसाइटी एंड कल्चर" (Peasant Society and Culture)[7] मे उन्होंने पिछले दो दशको के दौरान मानवशास्त्रियों द्वारा एकत्र की गयी कृपक संबधी अनुभवजन्य सामग्री का पर्यवेक्षण किया है, और इस आधार पर, समस्त विश्व में कृपको की समान विशिष्टताओं को सूत्रबद्ध करने की चेष्टा की है। क्रोडबर (Kroeber) का अनुसरण करते हुए, रेडफील्ड ने कृपको को अंशत: समाज का और अंशत: संस्कृति का होने के रूप में परिभाषित किया है।[8] यह वही विशिष्ट मानवशास्त्रीय परिभाषा है जो कृपकों को जनजातियों के विपरीत देखते हुए, उनके अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत समाज और सस्कृति के साथ संधियोजन पर जोर देती है। यह कहने की जरूरत नही है कि अनेक ऐसे समकालीन मानवशास्त्री है जो कृपकों की विशिष्टताओं को बतलाते हुए उनकी बाजार से पृथकता को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं।[9]

[5] In particular *The Folk Culture of Yucatan*, University of Chicago Press, 1941.

[6] Ibid.

[7] Robert Redfield, *Peasant Society and Culture, An Anthropological Approach to Civilization*, University of Chicago Press, 1956.

[8] Ibid.

[9] See, for instance, Eric Wolf, *Peasants*, Prentice-Hall, 1966.

रेडफील्ड और उनके सहयोगियो की कृतियाँ कृषक सम्प्रदाय की सुव्यवस्थित विशेषताओ पर जोर देती हैं। कृषको का सामाजिक जीवन कुछ खास समान सामाजिक मूल्यों से प्रभावित होता है, जो काम के गुणो, सबधियो और पड़ोसियों के प्रति कर्तव्यों और चरम सत्ता के प्रति आदर पर जोर देते है। कृषक समुदाय छोटा तथा संभागीय है, और उसके सदस्यो के पारस्परिक संबधो मे प्रत्यक्ष और निजी विशेषताएँ हैं। कृषक सामाजिक जीवन का सम प्रवाह, सामान्यत उस प्रकार के विग्रह और हिंसा से अस्तव्यस्त नही होता, जो शहरी औद्योगिक जीवन की आम विशेषताएँ हैं। स्पष्टत रेडफील्ड के कृषक सम्प्रदाय के चित्र और टोनीज (Tonnies) के जेमीनसेफ्ट (Gemeinschaft) के माडल मे निकट पारिवारिक समानता है।

कृषक संप्रदायो के अन्य प्रेक्षको ने इन परिकल्पनाओं को आदर्शवादी और संभवत. कुछ-कुछ कल्पनामय एव रूमानी पाया है। सूक्ष्म विश्लेषणो ने इन संप्रदायों (समुदायों) को अक्सर परस्पर टकराने वाले हितों के कारण जबर्दस्त रूप से विभाजित पाया है।[10] संभवत ये सीमाएँ रेडफील्ड के अनुभवजन्य अनुसधानों मे उतनी नही है जितनी उनकी वैचारिक संरचना मे। जब कोई कृषक समुदाय को सामान्य मूल्यों के सेट के परिप्रेक्ष्य मे समझना चाहता है, तब कृषको को मैत्रीपूर्ण रूप मे दिखलाने की प्रवृत्ति होती है। कृषको के अधिक यथार्थवादी चित्रण को प्राप्त करने के लिए कृषक-सामाजिक-जीवन के भौतिक आधार पर समुचित ध्यान देना चाहिए।[11]

रेडफील्ड ने अपने मेक्सिकी अध्ययन से जिस क्षेत्र को खोला था वह शीघ्र ही पुरानी दुनिया की ओर विस्तृत हो गया। आखिरकार, एशिया के प्रमुख देशों में ही तो सबसे दीर्घकाल से सबसे अधिक संख्या में कृषक समुदाय रहते आये है। इसके विपरीत, लातिन-अमेरिकी कृषक समुदाय अपेक्षाकृत हाल के मूल का है और कुछ विशेष स्थितियो मे उभर कर आया है। भारत और चीन मे, कृषक समुदाय, अपनी स्वाभाविक स्थितियों मे, सहस्र वर्षो से रहते आये हैं। विश्व की सबसे पुरातन सभ्यताओं को जीवंत रूप से समझने के लिए, इसी भूखड के कृषक समुदाय का अध्ययन अधिक आशा दिला सकता है।

एशियाई कृषक समुदायो के प्रति पश्चिमी विद्वानो की बढती हुई अभिरुचि के पीछे और भी कारण थे। अमेरिकी समाजशास्त्रियो की यह विशेषता रही है कि

[10] See, for instance, the restudy of Tepoztlan by Oscar Lewis in which a contrasting picture of the same village is presented. Oscar Lewis, *Life in a Mexican Village: Tepoztlan Restudied*, University of Illinois Press, 1951.

[11] André Béteille, 'Ideas and Interests: Some Conceptual Problems in the Study of Social Stratification in Rural India', *International Social Science Journal*, Vol. XXI, No. 2, 1969, pp. 219–34.

वे समस्याओं के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते हैं। उन्होंने इस तथ्य को शीघ्र ही हृदयगम कर लिया होगा कि उपनिवेशवादोत्तर युग मे एशिया उनके ही देश मे, *विदेशनीति का प्रधान क्षेत्र बन जायेगा। परिणामतः इन देशों मे कृषक* समाज और सस्कृति के अध्ययन को बहुत अधिक सरकारी संरक्षण और प्रोत्साहन मिलने की संभावना थी। बेशक, इसका यह अर्थ नही है कि तीसरी दुनिया में काम करने वाले अमेरिकी समाजशास्त्रियों ने, अपने आपको अमेरिकी विदेश नीति का उपकरण बन जाने दिया है।

स्वय रेडफील्ड, चीन और भारत दोनो देशो के कृषक समुदाय के अध्ययन से घनिष्ठता के साथ, भले ही अप्रत्यक्ष रूप से जुडे हुए थे। फी ह्साओ तुंग को शिकागो विश्वविद्यालय ने आमंत्रित किया था, जहाँ श्रीमती रेडफील्ड की सहायता से उन्होने "चीन के अभिजात वर्ग" पर अपना ग्रथ पूरा किया था,[12] जो वास्तव में उनके चीनी कृषक जीवन पर लिखे गये ग्रंथ का कुछ अर्थों में पूरक था। भारत में अमेरिकी और भारतीय दोनो देशो के विद्वानों द्वारा किये गये "सामुदायिक अध्ययनो" पर रैडफील्ड का प्रभाव सुविदित ही है। यह उनका (और मिल्टन *सिंगर का) ही प्रभाव था कि "विलेज इडिया" मे किये गये एकत्रित अध्ययन* सामने आ सके।

परंतु एशिया मे कृषक समुदाय के अध्ययन के लिए अन्य अनुप्रेरणाएँ भी थी। यह कहना न्यायोचित होगा कि युद्धो के मध्य का काल वह समय था जब कि एशियाई विद्वानों ने अपने कृषक समुदाय मे सक्रिय अभिरुचि लेना प्रारंभ किया था, और इनमें से अनेक को नवीन मानवशास्त्र मे एक लाभदायक उपकरण मिला, जिसे उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के अनुकूल बनाना चाहा था। निश्चय ही, इसी संदर्भ में, चीन मे मानवशास्त्र को प्रवेश मिला, और इस सदर्भ को याद रखना होगा, यदि हमे यह समझना है कि इस शास्त्र (विषय) ने भारत में क्या स्वरूप ग्रहण किया।

भारत और चीन जैसे देशों मे शताब्दियों से देशज बुद्धिजीवी वर्ग रहता आया है। उपनिवेशवादी युग के अंतिम दौर मे, इस बुद्धिजीवी वर्ग ने, जो प्रचड रूप से शहरी था, अपने आपको सामान्यतः अपने निज के सामाजिक और सांस्कृतिक मूलो (जडों) से विच्छिन्न पाया। यह वह काल था, जब यह जागरूकता बल पा रही थी कि गाँवों का एशिया ही यथार्थ एशिया है। भारत मे इस जागरूकता को गाँधी और रवीद्रनाथ ठाकुर ने स्पष्ट भाषा दी, और इन दोनों ने मानवशास्त्री एन० के० बोस की रचनाओं को प्रभावित किया था। बोस ने अपने मानवशास्त्रीय प्रशिक्षण को उन समस्याओं के अध्ययन के लिए प्रयुक्त करना

[12] Fei Hsiago-Tung, *China's Gentry*, University of Chicago Press, 1953

चाहा, जो राष्ट्रीय आंदोलन के फलस्वरूप सामने आ गयी थी।[13] मानवशास्त्रीय क्षेत्र के बाहर, नि.संदेह अन्य समाजशास्त्री भी थे, जो इसी प्रकार के उपयोगी और साहसिक कार्यों में संलग्न थे।

जहाँ तक चीन का प्रश्न है, फी शाओ-तुङ बतलाते है कि उनके सदृश पंडित (समाजशास्त्री) किस तरह उस पारम्परिक पांडित्य की अपर्याप्तता के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते थे[14]—जो वस्तुतः साहित्यिक था और पुस्तकों में वर्णित ज्ञान को अंतिम रूप से सत्य मानता था। जब तक यह दुनिया अपेक्षाकृत रूप से अपरिवर्तित थी और लोग वर्तमान स्थितियों को किसी न किसी तौर पर स्वीकार कर लेते थे, तब तक इसका उद्देश्य पूर्ण होता रहा। परन्तु भारत की तरह, चीन मे भी बीसवी शताब्दी के बड़े सामाजिक और आर्थिक बदलावो ने, विद्वानो का ध्यान गाँवो के किसानों की ओर आकृष्ट किया, और यही उन्हे यह ज्ञात हुआ कि पारम्परिक शास्त्रीय विधियाँ एकदम अपर्याप्त हैं। प्रत्यक्ष और व्यवस्थित निरीक्षण द्वारा कृषको के मध्य रह कर, कृषको के सामाजिक जीवन को समझना, पश्चिमी समाजशास्त्र द्वारा चीन को प्रदान की गयी नवीन चीज थी।

फी और उनके सहयोगियों के उद्देश्य अधिकतर सामाजिक पुनर्गठन के थे। पारम्परिक "शास्त्र और पंडित" के विरुद्ध उनकी यह शिकायत थी कि, यह परिवर्तनशील वातावरण मे, व्यावहारिक क्रिया के लिए बहुत कम दिशा-निर्देशन प्रदान करता है। उन्होने चीन की समस्या को गरीबी, बेरोजगारी और कृषक समुदाय के शोषण मे आधारित देखा। वे उस पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था के विघटन को लेकर चिंतित हो गये थे, जिसने कृषकों को कुछ अंश मे सुरक्षा और "भलाई" दी थी। उनको यह महसूस हुआ कि सामाजिक पुनर्गठन का अत्यावश्यक कार्य, सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाओ को ठीक से समझने के लिए, वैज्ञानिक पद्धतियों के प्रयोग की उपेक्षा करता है। इसी सदर्भ मे, समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र ने साम्यवादी-पूर्व चीन मे जड़ें जमानी शुरू कर दी।

भारत में सामाजिक पुनर्गठन और समाजशास्त्रीय अनुसधान का संबंध उलझनपूर्ण हैं। जब कि रवि ठाकुर के श्रीनिकेतन सदृश केन्द्रो ने प्रारंभ से ही दोनो को जोड़ने का प्रयत्न किया था, विश्वविद्यालय के विभागों ने सामान्यत. इस समस्या के प्रति शास्त्रीय दृष्टिकोण ही अपनाया। इसके साथ ही, भारत में समाजशास्त्री, अपने चीनी सहकर्मियो की तुलना मे, अपने शास्त्र (विद्या) की मांगों से ज्यादा दिलचस्पी रखते थे, जिससे कि उनकी रचनाओ मे, सामाजिक क्रियाओ से स्वतन्त्र सोची गयी परिकल्पनाओं, विधियों, और सिद्धांतो के साथ

[13] N. K. Bose, *Culture and Society in India*, Asia, 1967.

[14] Fei Hsiao-Tung and Chang Chih-I, *Earthbound China, A Study of Rural Economy in Yunnan*, Routledge and Kegan Paul, 1949.

अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय और निरन्तर गति से प्रवहमान पूर्वाधिकार ही देखा जाता है।

चीनी समाजशास्त्रियों द्वारा, इस शती के तीसरे और चौथे दशकों में किये गये कृषक समुदायों के अध्ययन, अनेक कारणों से विचारणीय हैं। 1947 के उपरांत भिन्न-भिन्न मार्गों के अपनाये जाने के बावजूद भारत और चीन दोनों ही देशों की एक ही पृष्ठभूमि है और इन दोनों की अनेक ऐसी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याएँ है, जो विशेष रूप से तब स्पष्ट हो जाती हैं, जब हम कृषक वर्ग की स्थिति के विषय में सोचते है। चीनी और भारतीय कृषक वर्गों की समानताएँ उतनी ही जबर्दस्त है जितनी कि विषमताएँ। भारतीय समाजशास्त्री इस तथ्य को भूलने को प्रवृत्त हो जाते है कि चीनी समाजशास्त्रियो द्वारा किये गये अनेक ग्राम-अध्ययन, साम्यवादी प्रशासन की स्थापना के पूर्व के दशक मे किये गये तथा प्रकाशित हुए थे। भारतीय और चीनी ग्राम-अध्ययनों की तुलना ज्ञान के समाज-विज्ञान के लिए भी एक दिलचस्प साधना प्रस्तुत करती है। पश्चिमी समाजशास्त्र सहित पश्चिमी विचारो का प्रभाव इन दो देशो मे काफी भिन्न था। चीनी समाजशास्त्रियो ने अपने आपको पश्चिमी समाजशास्त्र के अल्पकालीन अध्ययन के उपरांत ही ग्राम-अध्ययन मे जुटा दिया था, जब कि भारत में ये ग्राम अध्ययन ब्रिटिश और अमरीकी समाजशास्त्र और समाज-मानवशास्त्र के साथ अपेक्षाकृत कही ज्यादा लम्बे परिचय के बाद ही हाथ में लिये गये। इन दो देशो में, ग्रामीण अध्ययनो मे प्रयुक्त परिकल्पनाओं, विधियों और सिद्धांतो के मध्य हम क्या अंतर पाते हैं?

चीनी ग्राम के अध्ययन की प्रथम पूर्ण रपट 1939 मे फी शाओ-तुङ द्वारा प्रकाशित की गयी थी।[15] *यह पुस्तक लदन स्कूल ऑव इकोनॉमिक्स में* मेलिनोवास्की की देखरेख मे पूरी की गयी और इसका आमुख भी उन्होंने ही लिखा है।

बाद की एक रचना में, फी[16] ने दो अन्य विद्वानों—अमेरिकी समाजशास्त्री रॉबर्ट पार्क (*Robert Park*) और रूसी नृजाति-वैज्ञानिक एस० एम० शिरोकोगोरोफ (S. M. Shirokogoroff) का बौद्धिक ऋण स्वीकार किया है। ये बौद्धिक प्रभाव बड़े सोच-विचार के साथ काम में लाये गये हैं, और उनके ग्रन्थ मे भी पश्चिमी समाजशास्त्र में तत्कालीन प्रचलित विवादों मे उलझने का *कोई यत्न नहीं है।*

[15] Fei Hsiao-Tung, *Peasant Life in China*, Routledge and Kegan Paul, 1939.

[16] Fei Hsiao-Tung, 'Introduction' in Fei and Chang, *Earthbound China*, op. cit.

फी के विवरणों में उनके गाँव का चित्रण प्रत्ययात्मक या सैद्धांतिक बारीकियों में गये बिना, यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनका प्रमुख लक्ष्य, समुदाय के सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को सावधानी से देखना और तत्पश्चात् उन्हें ईमानदारी से रिकार्ड कर देना था। मेलिनोवस्की ने अपने सहयोगियो में, जिस विश्लेपण को सफलतापूर्वक स्थापित किया था उसकी बनावट के दो विशेष लक्षण देखे जा सकते है। पहली विशेषता, कृपको की सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों को उनके विभिन्न बहुप्रकारीय अन्योन्याश्रय मे दिखलाना था। द्वितीय विशेपता लोगों के भव्य और रंगीन पक्ष को न लेकर, उनके रोजमर्रा के यथार्थ जीवन पर केंद्रित होना था। कियाङत्सुन नामक जिस गाँव का फी ने अध्ययन किया था, उसका वर्णन काम के चक्र या आर्थिक क्रियाओ, घरेलू जीवन और रिश्तेदारी की प्रणालियो को और आनुष्ठानिक जीवन या धार्मिक विधियो के चक्र के दृष्टिकोण से किया गया है। अधिकांश कृपक समुदायो की भाँति इन तीनो मे नजदीकी अन्योन्याश्रितता है। कृपक फार्मो में, आर्थिक गतिविधियो की इकाई कृपक का घर-परिवार है, और अधिकाश महत्वपूर्ण अनुष्ठानो का संबंध या तो आर्थिक गतिविधियों के चक्र से है या जीवन, विवाह और मृत्यु के घरेलू चक्र के साथ है।

चीन के एक अन्य भाग मे किये गये अध्ययन का दूसरा पूर्ण विवरण इसके शीघ्र बाद प्रकाश मे आया। यह शांतुङ प्रांत[17] के ताइताऊ (Taitou) ग्राम का, जहाँ कि वे स्वयं रहे और बड़े हुए, मार्टिन याङ (Martin Yang) द्वारा प्रस्तुत वर्णन है। कियाङत्सुन के, जो कि चावल उत्पन्न करने वाला था, विपरीत ताइताऊ गेहूँ पैदा करने वाले अंचल मे स्थित था, और परिणामत. इन दोनो के मध्य कृपि की विधियो और पैटर्नों में अंतर था। फिर भी, दोनो गाँव छोटे घर-परिवारों की विशेपता लिये थे, और इस प्रकार, वस्तुत: मूलभूत रूप मे अपनी उत्पादन पद्धतियों मे एक समान थे, यद्यपि ताइताऊ के निवासी पूरी तौर पर कृपि पर आश्रित थे, जबकि कियाङत्सुन के ग्रामीण कृपि-कार्य और ग्राम्य-उद्योगो को साथ-साथ चलाते थे।

ताइताऊ छोटे कृपको का गाँव था। याङ ने इस गाँव की आबादी को, भूमि-स्वामित्व के आधार पर, चार श्रेणियो मे विभाजित कर दिया, और सबसे समृद्ध परिवारों मे प्रत्येक के पास दस एकड़ से कम भूमि थी। प्राय: प्रत्येक वयस्क, स्त्री और पुरुप दोनो, खेतों में काम करते थे, यद्यपि समृद्ध लोग, अवस्था के बढ़ने के साथ-साथ भारी कामो से विलग होने की ओर प्रवृत्त थे। गाँव मे सुनियोजित श्रम-

[17] Martin Yang, *A Chinese Village: Taitou, Shantung Province*, Routledge and Kegan Paul, 1948

विभाजन नही था। गाँव में कारीगरो के कुछ ही परिवार थे। लोहार, बढ़ई, बुनकर, तेली और राज-मिस्त्री के सुनिश्चित "वर्ग" या "समूह" नही थे, परन्तु वे कृषक परिवार से ही आते थे। याङ (Yang) कृषक समुदाय का उसके आधार-भूत समूहों और श्रेणियों की संरचना की दृष्टि से वर्णन करते है। वे सामाजिक समूहों (या दलो) को भिन्न प्रकार का मानते हैं, और परिवार को, जो सबसे अधिक प्राथमिक समूह है, अपने अनुष्ठान के (केन्द्र) बिन्दु के रूप में लेते हैं। उनकी राय में, परिवार के विपरीत, गाँव एक गौण समूह है। वे यह दिखलाते हैं कि परिवार, किस प्रकार, ग्राम के साथ, अनेक प्रकार के संक्रात्मक समूहो—यथा, परिवेश और अन्य सामजिक-आर्थिक और सामाजिक-धार्मिक समूहों—द्वारा संरचनात्मक रूप से जुड़े हुए है। अत में, ये यह दिखलाते हैं कि गाँव, बाजार के कस्बे से *तथा उसी बाजार-कस्बे से जुड़े हुए अन्य ग्रामों से किस प्रकार जुड़ा हुआ है।*

कई प्रकार से, चीनी कृषक समुदायो के अध्ययनों में फी शाओ-तुङ और चाङ ची-आइ द्वारा किये गये तीन अध्ययनों का सेट, जिसे *अर्थबाउंड चाइना* (*Earthbound China*)[18] में एक साथ प्रकाशित किया गया है, सबसे विशिष्ट है। ये तीन गाँव, *पीजेन्ट लाइफ इन चाइना* (*Peasant Life in China*) में वर्णित एक गाँव के साथ, विभिन्न प्रकार के उत्पादकीय प्रबंधों का प्रतिनिधित्व करने के लिए चुने गये थे और उनका तुलनात्मक अध्ययन चीन के ग्रामीण अंचलो मे काम कर रही बृहत आर्थिक शक्तियो पर मूल्यवान प्रकाश डालते है। दुर्भाग्य से वह बड़ी योजना जिसके कि ये अध्ययन एक अंग थे, और जिसकी रूपरेखा *अर्थबाउंड चाइना* (*Earthbound China*) की अपनी भूमिका मे फी ने संक्षेप मे निरूपित की है, अपूर्ण रह गयी।

अर्थबाउंड चाइना (*Earthbound China*) चीन की ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था की संस्थागत पृष्ठभूमि को व्यवस्थित रूप से अन्वेपित करने का एक प्रयास है। फी अपने तीन ग्राम्य समुदायो के अध्ययन मे टानी (Tawney) और बक (Buck) द्वारा किये गये पिछले कामो का जिक्र करते हैं। इसमे विधि-विज्ञान के बारे में कई महत्वपूर्ण सवाल उठाये गये है, खासकर इस पर कि सर्वेक्षण अनुसंधान के द्वारा चीनी फार्म के सामाजिक और आर्थिक संगठन को समझना कहाँ तक शक्य है। फी को यह प्रकट करने में कोई कठिनाई नही हुई कि बक (Buck), जिन्होंने अपने निजी महत्वपूर्ण कार्य को सर्वेक्षण-अनुसंधान पर आधारित किया था, अनेक मूलभूत विषयो के बारे में भ्रम मे पड़े थे। विशेषतः वे बक की चीनी ग्राम्य अर्थव्यवस्था को "मालिक, आंशिक मालिक और आसामी के पारम्परिक अमरीकी वर्गीकरण" की दृष्टि से समझने की कोशिश की तीखी आलोचना करते

[18] Fei and Chang, *Earthbound China*, op. cit. Interestingly, Fei tells us that the title of the book was suggested by Malinowski before it was actually written.

है ।[19] चीन में काश्तकारी की अवधि के अर्थ, अमरीकी काश्तकारी की अवधि से एकदम भिन्न थे, और चीन में भी जाति-भूमि के आसामी और व्यक्तिगत भूमि के आसामी के आभार और बंधन कही ज्यादा पृथक-पृथक थे । इन महत्व-पूर्ण उपादानों को समझने के लिए, साझेदार-पर्यवेक्षण की विधि द्वारा गंभीर अनुसंधान की आवश्यकता थी । भारतीय ग्राम्य समुदाय के अध्येताओ के सम्मुख भी, अनुसंधान की भिन्न-भिन्न विधियो के तुलनात्मक लाभों के विषय में परिचित प्रश्न उपस्थित हो सकते है ।

जहाँ तक वर्गीकरण का प्रश्न है, फी सामान्यीकृत और अमूर्त सांस्कृतिक श्रेणियों के प्रयोग के विषय में सतर्कता बरतने का आग्रह करते है । वे तर्कसगत रूप से बिलकुल ठीक कहते है कि वर्गीकरण मे अनुसधान के आधारभूत हित प्रतिबिंबित होने चाहिए । इस अध्ययन में मूलभूत अभिरुचियाँ, दैन्य, गरीबी, भूमिहीनता, अक्षम तकनीकी और शहर द्वारा ग्राम के शोषण के अध्ययन मे थी । यहाँ प्रस्तुत वर्गीकरण किसी प्रकार भी सर्वागीण नही है, क्योंकि ये तीनो गाँव एक ही पारिस्थितिकीय अचल मे चीनी सभ्यता के केंद्र से दूर, स्थित थे । फिर भी यह ग्रंथ, ग्रामीण चीनी आर्थिक और सामाजिक समस्याओ को समझने के लिए उप-योगी परिचय-सामग्री प्रस्तुत करता है ।

तीनों युन्नान (Yunnan) ग्रामों की यह विशेषता थी कि वहाँ के भूस्वामी दस एकड़ से अधिक के मालिक नही थे । इन तीनो ग्रामो में, सभी वयस्क स्त्री-पुरुष किसी न किसी प्रकार के कृषि कार्य मे योग देते थे । कृषि और दस्तकारी के मध्य श्रम-विभाजन को कठोरता से नही लिया जाता था । एक व्यक्ति ही अक्सर अनेक प्रकार के कामों को अपने जीवन के भिन्न पड़ावों मे या तो एक साथ ही, या पृथक-पृथक किया करता था । इन तीन संप्रदायो मे भी आपस में भेद था । प्रथम ग्राम लुत्सुन मे, अधिकांश भूस्वामी स्थानिक आवासी थे और उनके भू-क्षेत्र समान रूप से छोटे थे । दूसरे गाँव इत्सुन में अनेक अपेक्षाकृत बड़े जमीदार थे, जो अन्य ग्रामो मे स्थित बड़ी जमीनो के मालिक थे, जबकि अन्य छोटे भूखडों के कब्जेदार मालिक थे, फिर भी गाँव के बाहर अधिकृत जमीन अक्सर निम्न कोटि की होती थी और उससे होने वाली उपज अत्यंत अनिश्चित थी । तीसरे ग्राम युत्सुन में अनेक आसामी थे, जबकि उसके बड़े जमीदार निकटस्थ कस्बे में रहते थे । इन तीन ग्रामो की तुलना कियाङत्सुन से की जाती है, जो आसामियों का गाँव है, और जिसके अनुपस्थित जमीदार बड़े शहरो मे रहते हैं और इसे "तीसरे गाँव की तुलना मे काश्तकारी का बढता विकास" कहा गया है ।[20] इन तीन युन्नान गाँवो

[19] Ibid., p. 2.
[20] Ibid., p. 17.

की आर्थिक समस्या की चर्चा उनकी सामाजिक संरचना के संदर्भ में की गयी है। इस चर्चा में, मुख्य जोर, स्वभावतः कार्य के सगठन और उसमें ग्रामीणों की भिन्न श्रेणियों की भूमिकाओं पर दिया गया है। परिवार, एक बार फिर, उत्पादन और उपभोग दोनों क्षेत्रों में, प्राथमिक इकाई के रूप में उभर कर आता है। अध्ययन का समापन कृषि को ग्रामीण उद्योगों के साथ जोड़ने की सर्वोत्तम विधि पर चर्चा के साथ किया गया है, ताकि कृषक परिवार की जीवन-क्षमता तथा व्यवहार्यता सुरक्षित रहे।

फी (Fei) और उनके सहकर्मियों द्वारा राष्ट्रीय युन्नान विश्वविद्यालय में प्रारंभ किये गये कार्य को साम्यवादियों के सत्ता में आने के पूर्व बीच मे ही छोडना पड़ा। 1949 के उपरांत चीनी कृषक समुदायों (ग्रामों) पर बहुत कम आधिकारिक समाजशास्त्रीय आँकड़े उपलब्ध हैं। कैंटन नगर के बाह्य अंचल में स्थित ग्राम नानचिंग का सी० के० याङ द्वारा किया गया अध्ययन कृषक समुदाय के पुरानी व्यवस्था से नवीन व्यवस्था तक के संक्रमण काल का कुछ आभास देता है।[21] यह अध्ययन, एक बार फिर, भूमि के वितरण और उत्पादन के संगठन पर जोर देता है, और भूमि-सुधार के प्रथम दौर मे उत्पादन तथा भूमि-वितरण दोनों में हुए परिवर्तनों की चर्चा करता है। चीन में किये गये ग्राम-अध्ययन न केवल अत्यल्प काल के दौरान किये गये हैं, वरन् इनका एक विशेष दृष्टिकोण है और इनमें उन समान समस्याओं के प्रति दिलचस्पी ली गयी है, जो जमीन के स्वामित्व, कब्जे और इस्तेमाल से संबंधित है।

जब कि चीन मे समाजशास्त्रियों द्वारा किये जाने वाले ग्राम-अध्ययन 1949 के आसपास प्रायः समाप्त हो चुके थे, भारत में 1947 मे स्वतन्त्रता के उपरांत ही ग्राम-अध्ययन गंभीरतापूर्वक आरम्भ किये गये। यद्यपि, भारत मे समाजशास्त्र में शोध की अपेक्षाकृत दीर्घ और निरतर चलने वाली परंपरा रही है, फिर भी एक भारतीय ग्राम का प्रथम संपूर्ण अध्ययन-विवरण 1955 मे ही प्रकाशित हुआ जो कियाङ्त्सुन पर फी के अध्ययन के प्रकाशित होने के पूरे पन्द्रह वर्ष पश्चात् ही प्रकाश मे आया था। समाजशास्त्र के भारत में पूर्ण शास्त्र और विद्या के रूप मे स्थापित होने के उपरांत ही भारतीय समाजशास्त्रियो ने कृषक समुदायो के अध्ययन की ओर ध्यान देना आरंभ किया। इसी कारण से, हम उनकी रचनाओ में, चीनी ग्राम-अध्ययनो की तुलना में अधिक सैद्धांतिक परिष्कार पाते हैं।

चीनी और भारतीय ग्रामीण समुदायो मे यद्यपि अनेक विशिष्टताएँ समान हैं,

[21] C. K. Yang, *A Chinese Village in Early Communist Transition*, Harvard University Press, 1959.

फिर भी इन दो प्रकार के अध्ययनो मे दिये गये महत्वों मे कुछ अंतर है। चीनी अध्ययन, जैसा कि हमने देख लिया है, कृषकों और उनके फार्म (भूमि) पर तथा विखंडित भूमि, काश्तकारी, और भूमिहीनता के परिणामो पर ध्यान केंद्रित करता है। अभी हाल तक, इन समस्याओ ने, भारतीय समाजशास्त्रियो और मानव-समाजशास्त्रियो द्वारा किये गये भारतीय ग्रामीण समुदायो के अध्ययनो मे अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इसका कुछ अंश तो इस कारण सम्भव हुआ है कि भारत मे, जब समाजशास्त्रियों ने ग्राम-अध्ययन प्रारभ किया तो अर्थशास्त्रियो और समाजशास्त्रियो के मध्य एक श्रम विभाजन स्थापित हो चुका था।

निश्चय ही, हमारे पास चीन के ग्रामीण समुदायो की तुलना मे, भारतीय ग्रामीण समुदायो का कही अधिक व्यापक और स्पष्ट चित्र है। हमारे पास न केवल भारत के सभी बड़े अंचलो से सबधित अध्ययन है—वरन् ये अध्ययन संस्थागत जीवन के प्रायः प्रत्येक पहलू को छूते है। इन अध्ययनों मे पृथकता होने का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि ये न केवल भारत के वरन् समस्त विश्व के समाजशास्त्रियों और मानव-समाजशास्त्रियो द्वारा किये गये थे।

किसी भारतीय ग्राम का सपूर्ण समाजशास्त्रीय अध्ययन, जिसे एम० सी० दुबे ने किया था, 1955[22] मे प्रकाशित हुआ था। वे मानवशास्त्री के रूप मे प्रशिक्षित हुए थे, और उन्होंने इसके पूर्व, सरल तकनीकी से, एक छोटे जनजातीय समूह का अध्ययन किया था।[23] दुबे द्वारा किये गये "शामिरपेट" नामक ग्राम के अध्ययन ने, भारतीय समाजशास्त्र में शोध की नयी दिशा की ओर स्पष्ट संकेत दे दिये थे। पहले तो उन्होंने *गैरजनजातीय* ग्राम की आंतरिक विषमागता को समझने पर, फिर उसे बाहरी विश्व के साथ उसके बहुप्रकारीय सबंधों के संदर्भ मे जाँचने पर जोर दिया।

हमे स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय ग्राम का प्रथम सपूर्ण अध्ययन एक अत्यत व्यावहारिक कार्यक्रम अर्थात् *ओसमानिया यूनिवर्सिटी सोशियल सर्विस एक्सटेंशन प्रोजेक्ट* का परिणाम था। यह अध्ययन इस तथ्य से लाभान्वित और कुछ अंशों मे रचित भी था कि यह योजना स्वरूप मे अन्तर-अनुशासनिक है। इस दल में, जिसका कार्य दुबे के सामान्य पर्यवेक्षण में हुआ था, अर्थशास्त्री, कृपि-शास्त्री तथा स्वास्थ्य एव पौष्टिक आहार के विशेपज्ञ सम्मिलित थे। दुबे ने इन "प्रचार कार्यक्रमो" में अपनी अभिरुचियो को, कुछ वर्षों के बाद के अध्ययन में "समुदाय-

[22] S. C. Dube, *Indian Village*, Routledge and Kegan Paul, 1955.
[23] S. C. Dube, *The Kamar*, Universal Publishers, 1951.

विकास कार्यक्रम"[24] के सामाजिक और सांस्कृतिक तात्पर्यों पर एक पुस्तक लिख-कर जारी रखा।

शामिरपेट पर लिखी गयी दुबे की पुस्तक, प्राचीन मानवशास्त्रीय प्रबंधो की शैली में लिखी गयी है। यह किसी समस्या विशेष या संस्थागत प्रणाली पर ध्यान केंद्रित करना नहीं चाहती, वरन् ग्राम जीवन के सभी बड़े क्षेत्रों के सामान्य और व्यापक विवरणों को प्रस्तुत करती है। पहले तो इसमें, गाँव में, धर्म और जाति के अनुसार बँटी हुई बड़ी सामाजिक श्रेणियों का वृत्तांत है। इसके उपरांत इसमें, आर्थिक व्यवस्था, आनुष्ठानिक योजना और परिवार-प्रणाली के वर्णन हैं। भारतीय ग्रामों में आ रहे परिवर्तनों की चर्चा कर, पुस्तक समाप्त की गयी है। स्पष्ट रूप से, हमारे ऊपर यही प्रभाव पड़ता है कि दुबे का गाँव फी द्वारा अध्ययन किये गये गाँवों की तुलना में अधिक जटिल और ज्यादा अच्छे रूप से स्तरीकृत है।

भारत मे, गाँवों के विकास के अध्ययन के क्षेत्र मे ऐतिहासिक घटना 1955 मे हुई, जब मेरियोत्त (Marriott)[25] द्वारा संपादित आठ लेखों का सकलन, जिसमें भारत के विभिन्न क्षेत्रों के गाँवों का विस्तृत वर्णन मिलता है, प्रकाशित हुआ। परंतु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि यह ग्रंथ वर्गीकरण के विषय मे मौलिक प्रश्नो को उठाता है। किस सीमा तक भारतीय गाँव को सामाजिक और सांस्कृतिक एकत्य के रूप में देखा जा सकता है? यह तथ्य सामने रखकर कि यह पूर्णतः पृथक् किया हुआ नही है, मानवशास्त्री को इसका सार्थक वृत्तांत देने के लिए कौनसी योजना अपनानी चाहिए? यह पुस्तक स्पष्ट रूप से, मानव शास्त्र के बौद्धिक अनुशासन में आधारित प्रश्नों का उत्तर देने के लिए रखी गयी थी।

विलेज इंडिया (Village India) मे संकलित अध्ययनो ने न केवल वर्गीकरण के विषय मे महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाया, वरन् अनेक मूल्यवान धारणाओं को भी जन्म दिया। "रामपुरा" निबन्ध में श्रीनिवास ने प्रभुत्वपूर्ण प्रबल जाति की महत्वपूर्ण धारणा को सामने रखा है, जो आगे चल कर, भारतीय गाँवों पर लिखे गये निबंधों में महत्वपूर्ण स्थान पाने वाली थी। मारियोत्त ने *"किशनघरी"* पर अपने लेख में साधारणीकरण और सकुचितीकरण की दो सबंधित धारणाओं को, महान और लघु धारणाओं के सक्रिय सबंध की व्याख्या करने के लिए, सूत्र-बद्ध किया है।

[24] S. C. Dube, *India's Changing Village*, Routledge and Kegan Paul, 1958.
[25] McKim Marriott (ed.), *Village India*, University of Chicago Press, 1955.

उन मानवशास्त्रियों के अपेक्षाकृत ऊँचे स्तर के विवेक और ज्ञान ने, जो ग्रामीण भारत का अध्ययन कर रहे थे, कुछ ऐसे तकनीकी और दुरूह विवादो को उत्पन्न कर दिया, जो भारतीय गाँव के समाजशास्त्रीय यथार्थ से सबद्ध थे। एक विचारोत्तेजक लेख मे, ड्यूमोन्त (Dumont) और पोकोक ने यह लिखा कि भारत मे समाजशास्त्रीय विश्लेषण की वास्तविक समस्याएँ, रिश्तेदारी, जाति और धर्म के चारों ओर केंद्रित होनी चाहिए, और भारतीय ग्राम समाजशास्त्रीय वास्तविकता से वंचित हैं।[26] बेली (Bailey) ने एक ज़ोरदार प्रभावशाली प्रत्युत्तर लिखा, जिसमे उन्होंने गाँव को अनुसंधान की आधारभूत इकाई मानने के औचित्य और वैधता का समर्थन किया था।[27] चीनी मानवशास्त्री, अपने परिष्कृत ज्ञान की तुलनात्मक कमी के कारण इस प्रकार की चर्चा से बच गये थे।

विलेज इंडिया (*Village India*) मे संकलित आठ निबध, देश मे ग्रामीण समुदायों की संरचनात्मक विषमता को स्पष्टत. सामने ले आते है। मैसूर राज्य के रामपुरा सदृश गाँव, कृपक समुदाय कहे जा सकते हैं। यहाँ अधिकांश भूमि ओंक्कालिगों की है, जो खेत जोतने वाली जाति के है, और जो गाँव की प्राय आधी जनसंख्या के बराबर है। अधिकाश भूमि मध्यम और छोटे भू-खंडों में है। परिवार के श्रम के आधार पर, और कभी-कभी विशेष प्रयोजनों पर और विशेष कामों के लिए भाड़े के मजदूरो की सहायता से अधिकाश उत्पादन किया जाता है। रामपुरा के ठीक विपरीत, कैथलीन गाउ (Kathleen Gough) द्वारा वर्णित कुम्वापेत्ताई गाँव है, जहाँ ब्राह्मणों की जाति का प्रावल्य है। कुम्वापेत्ताई की कोटि के गाँवों मे, जो तंजौर जिले या सपूर्ण भारत मे किसी भी अर्थ मे कम संख्या में नही हैं, न केवल एक भली प्रकार से सयोजित, श्रेणीबद्ध वर्ग संगठन है, वरन् एक ज्यादा जटिल कृपि संबधो की सरचना भी है। जिन गाँवो मे ब्राह्मणो का अधिक भूमि पर अधिकार है, वहाँ उत्पादन, परिवार-श्रम के आधार पर नही, बल्कि भाडे की मजदूरी या काश्तकारी के आधार पर किया जाता है। कुम्वापेत्ताई जैसे ग्रामों को सही मानों मे कृपक-समुदाय कहा जा सकता है या नही यह शकास्पद है क्योकि ब्राह्मण, जो कि इस जैसे ग्रामो मे प्रमुत्वपूर्ण और प्रबल समुदाय के हैं, कठिनाई से ही कृपक कहे जाते है।

विलेज इंडिया (*Village India*) और उसी वर्ष प्रकाशित उसके साथी ग्रंथ इंडियाज विलेजेज (*India's Villages*)[28] के प्रकाशन के बाद देश के विभिन्न

[26] Louis Dumont and David F. Pocock, 'Village Studies', *Contributions to Indian Sociology*, No. 1, 1957.

[27] F. G. Bailey, 'For a Sociology of India ?' *Contributions to Indian Sociology* No. 3, 1959, pp. 88–101.

[28] M. N. Srinivas (ed.) *India's Villages*, Asia, 1960.

भागों से अकेले व्यक्तिगत गाँवों के बारे में प्रबंधों की बाढ़-सी आ गयी। ये प्रबंध गाँव की सामाजिक बनावट के विशेष पहलुओं पर ध्यान फोकस करने को प्रवृत्त हो रहे थे। इसलिए, कुछ लेखकों ने आर्थिक प्रक्रियाओं पर ज़ोर दिया, कुछ अन्य लेखकों ने रिश्तेदारी पर, और कुछ दूसरे लेखकों ने आनुष्ठानिक प्रक्रियाओं पर जोर दिया। परतु इनमें से प्रत्येक ने जाति की बनावट को विशेषण की आधारभूत सरचना देने के लिए विशेष स्थान दिया।[29] वास्तव में, गाँव की सामाजिक सरचना का अध्ययन और गाँव की जाति का अध्ययन लगभग पर्यायवाची हो गया, जिसमें अंतरजातीय सबधों के अध्ययन के लिए गाँव एक सुविधाजनक भौतिक विन्दु प्रदान कर रहा था।

भारतीय गाँव के अध्येताओ द्वारा "जाति" पर जरूरत से ज्यादा महत्व देने का परिणाम यह हुआ है कि उन्होंने उत्पादन के सामाजिक और तकनीकी संगठन को, जो कि कृषक की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था की एक सबसे ज्यादा निर्णायक विशिष्टता है, उपेक्षित कर दिया है। रेडफील्ड के जबर्दस्त प्रभाव के कारण, इन शोधकर्ताओ ने अपने कार्यो को, जरा अस्पष्ट रूप से कृषक-समुदाय का अध्ययन कह दिया है। फिर भी, यदि वे उन गाँवों की, जिनका कि वे अध्ययन कर रहे थे, उत्पादकीय-व्यवस्थाओं का जरा बारीकी से परीक्षण करते, तो वे देखते कि ये सभी कृषकों के समुदाय नहीं थे, वरन् अक्सर भू-स्वामी, काश्तकार और भूमिहीन श्रमिकों में विभाजित थे।

वास्तव में, प्रायः तीस वर्ष पूर्व, रामकृष्ण मुखर्जी ने भारतीय उपमहाद्वीप में ग्रामों का उनके उत्पादकीय संगठनो के अनुसार, अध्ययन करने का प्रयत्न किया था।[30] और मुखर्जी ने अपना अध्ययन यह सवाल उठाकर किया था कि क्या इनको कृषकों का समुदाय माना जा सकता है। उनका उद्देश्य पर्याप्त सांख्यिकी प्रमाण एकत्र करना था ताकि भारतीय ग्रामो के विषय मे बहुप्रचलित समतावादी मिथक को चुनौती दी जा सके। मुखर्जी का कार्य भारत विभाजन के पूर्व, बोगरा जिले में, जो अब बाङ्ला देश मे है, किया गया था। उनके क्षेत्र कार्य तथा उनके द्वारा प्राप्त सामग्री के पुस्तक रूप में प्रकाशित होने के बीच काफी बड़ा अतराल था। यह प्रकाशित सामग्री भी अत्यंत "औपचारिक" कोटियों में प्रस्तुत की गयी है, और इसमे हमें ग्रामीण सामाजिक जीवन के बारे मे वह अंतर्दृष्टि नहीं मिलती, जो हमे चीनी प्रबंधो या परवर्ती भारतीय प्रबधो से प्राप्त होती है। इन्ही और अन्य कारणो से मुखर्जी के अध्ययनों ने अगली पीढ़ी के समाजशास्त्रियों और

[29] Beteille, 'Ideas and Interests', op. cit.

[30] Ramkrishna Mukherjee, *Six Villages of Bengal*, Popular Prakashan, 1971, also *The Dynamics of a Rural Society*, Akademie Verlag, 1957.

मानवशास्त्रियों द्वारा किये गये ग्रामीण भारत के अध्ययन पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नही छोड़ा।

जाति को आधारभूत सदर्भ मान कर, भारतीय ग्राम का अध्ययन जब प्रथम बार प्रकाशित हुआ था तब से प्रायः बीस वर्ष बीत चुके है। इस काल के दौरान गाँव में लागू होने वाले "जाति" के प्रत्येक पहलू पर खोज की जा चुकी है। इस बात के सकेत मिले हैं कि समाजशास्त्रियों की नयी पीढी, "जाति" का अध्ययन करना छोड़, भूमि के स्वामित्व, नियत्रण और प्रयोग के इर्द-गिर्द केंद्रित सबधो के अध्ययन की ओर अपना ध्यान देगी। यही मौका है कि समाजशास्त्रियो की यह नई पीढी रुक कर अपने पूर्ववर्ती चीनी समाजशास्त्रियो द्वारा, इतने अधिक धैर्य और सावधानी तथा उतनी भिन्न परिस्थितियो मे किये गये कार्य पर दृष्टिपात करे।

कृपक-समुदाय न केवल एशिया, अफ्रीका, और लातिन अमेरिका मे बल्कि अधिकांश यूरोपीय देशो में भी पाये जाते हैं। कृपि वर्ग ने, कुछेक अपवादो को छोड़ कर, यूरोपीय समाजशास्त्र के सस्थापको का ध्यान आकृप्ट नही किया; उसके विषय मे यह आम धारणा थी कि नवीन उभरती हुई औद्योगिक सामाजिक व्यवस्था के सम्मुख, वह एक ह्रासोन्मुख शक्ति थी। तथापि, अनेक पूर्वी यूरोपीय देशो मे आज भी, जनसख्या का अधिकांश कृपको का है। इटली, फ्रांस और आस्ट्रिया जैसे देशो मे भी कृपक-प्रश्न, आर्थिक और राजनीतिक दोनो रूपो मे महत्वपूर्ण है।[31]

यह सच है कि पिछली कई पीढियो से "कृपक-प्रश्न" ने यूरोपीय विद्वानों का ध्यान आकृप्ट कर रखा है, परतु पश्चिमी यूरोप मे, विशेपतः यह प्रश्न समाजशास्त्र या मानवशास्त्र का न रह कर, आर्थिक इतिहास के क्षेत्र का अधिक रह गया है। यूरोपीय कृपि-समुदाय के अध्ययन में प्रमुख बाते या तो आर्थिक थी जो अपर्याप्त तकनीकी, अल्प उत्पादकता और गिरते हुए उपभोग के चारो ओर केंद्रित थी, या राजनैतिक थी, जो कृपकों की रुढिवादिता और राष्ट्रीय राजनीति में कृपक "लाबी" की भूमिका मे केंद्रीभूत थी। कृपक समुदायों के अध्ययन के माध्यम से एक सभ्यता को समझने की जो नयी तकनीकें रेडफील्ड ने विकसित की, उन नयी तकनीकों को यूरोपीय देशो मे बिरले ही प्रयोग में लाया गया। इस कारण, हम यूरोपीय कृपक-समाज की आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के विषय मे काफी कुछ जानते है, परंतु उनकी सांस्कृतिक और सामाजिक विशेपताओं के बारे में अधिक नही जानते।

[31] For a useful recent discussion see S H. Franklin, *The European Peasantry, The Final Phase*, Methuen, 1969.

अब हमारे पास यूरोपीय देशों के कृपक समुदायों के समाज-मानवशास्त्रियों द्वारा किये गये अध्ययनों की कुछ संपूर्ण रिपोर्टें हैं। प्रारंभ की कुछ रिपोर्टों में से एक, अमेरिकी मानवशास्त्री ज्योल हाल्पर्न (Joel Halpern) द्वारा यूगोस्लाविया में एक सर्बियन गाँव के अध्ययन की रिपोर्ट है।[32] हाल्पर्न द्वारा वर्णित गाँव ओरासाक (Orasac) एक ठेठ कृपक समुदाय है, जहाँ परिवार की खेती सामाजिक और आर्थिक जीवन का केंद्र है। अनेक भारतीय गाँवों के विपरीत, यहाँ गाँव में, भूमि का काफी न्यायसंगत रूप से वितरण हुआ है, जिससे यहाँ बड़ी संख्या में बड़े जमींदार नहीं हैं, और भूमिहीन कृषि मजदूरों की संख्या भी कम ही है। जिनके पास अपनी भूमि है वे इसे सामान्यतः स्वयं अपने या अपने परिवार के सदस्यों के श्रम द्वारा जोतते हैं; जिनके पास अपनी जमीन नहीं है, आमतौर पर, कृषि-क्षेत्र के बाहर, भाड़े की मजदूरी करते है। छोटे-छोटे भूखंडों के, जिन पर स्त्री और पुरुष दोनों काम करते हैं, स्वामियों के इस अपेक्षाकृत सजातीय मनुष्यों के समुदाय के चित्र की पुष्टि, पूर्वी और पश्चिमी दोनों यूरोपों के कृपक ग्रामों में किये गये अध्ययनों से प्राप्त होती है।[33] अतानी (Atany) नामक एक हंगेरियन गाँव का-दो हंगेरियन मानवशास्त्रियों द्वारा किया गया अध्ययन, उन लोगों का, जिन्हें लेखकद्वय "उचित कृपक" कहते है, काम में, अवकाश में और पारिवारिक जीवन में सूक्ष्म परीक्षण करता है।[34] यहाँ भी गाँव में पारिवारिक फार्म, जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों काम करते हैं, सामाजिक और आर्थिक जीवन की आधारभूत इकाई बनता है।

इसके यह माने न लगाये जायें कि ओरसाक (Orsac) और अतानी (Atany) क्या पूर्वी और क्या पश्चिमी यूरोप के अन्य कृपक ग्रामों की तुलना में अधिक पूर्ण समतावादी समुदाय है। उनके बीच भी समृद्ध और गरीब, भू-स्वामी और भूमिहीन लोग हैं। परंतु, ये अंतर "कोटि" के ज्यादा और "प्रकार" के कम हैं। क्योंकि, भूमि पर आश्रित रहने वाले सभी लोग, एक-सा काम करते है, और समृद्ध भू-स्वामियों और भूमिहीन गरीबों को पृथक् करने वाली कोई न पटने वाली खाई मौजूद नहीं है। हम कृपक समुदाय के अभाव की ओर तब ही अग्रसर हो सकते हैं, जब भूमि के मालिक एक स्थायी *आत्म-स्थिरकारक*, बिना काम करने वाले स्तर बन जाते हैं और भूमिहीन जन, भूमि के स्वामित्व या कब्जे के सब साधनों से प्रायः पूर्णतः कट जाते हैं।

[32] Joel M. Halpern, *A Serbian Village*, Columbia University Press, 1958.

[33] For West Europe see F. G. Bailey (ed.), *Gifts and Poison: The Politics of Reputation*, Basil Blackwell, 1971.

[34] Edit Fel and Tamas Hofer, *Proper Peasants: Traditional Life in a Hungarian Village*, Aldineg Publishing Co., 1969.

विषय मे चर्चा करना एक बात है, और समस्त भारतीय (अथवा चीनी) समाज को कृपक समाज समझना और कह देना एकदम दूसरी बात है। भारत और यूगोस्लाविया, दोनों देशों में कृपक समुदाय है, और इन दोनों की तुलना करने से हमें (संप्रदायो अथवा) समुदायों के प्रकारो और स्वभाव के विषय मे कुछ जानकारी मिलती है। परन्तु, इस तुलना को भारत और यूगोस्लाविया के समाजों के मध्य समानताओ और विपमताओं का आधार बना लेना, नितांत भ्रमपूर्ण होगा।

तथाकथित कृपक समाज कभी-कभी अत्यन्त दुरूह और मुख्यत. स्तरित है। इन समाजो मे अक्सर ऐसे समूह, वर्ग और श्रेणियाँ सम्मिलित हैं, जिन्हे किसी भी मान्य अर्थो मे किसान नही माना जा सकता। जहाँ कही भी, कृपक संख्या में प्रवल हैं. वहाँ भी, सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से, गैर-कृपक स्तर या वर्ग महत्वपूर्ण या निर्णायक भूमिका निभा सकता है। इसके साथ ही, इन गैर-कृपक स्तरो या वर्गो की भूमिका और स्वरूप एक समाज से दूसरे समाज में बड़े रूप मे वदल सकते हैं। परिणामत: ऐसा भी हो सकता है कि कृपक समाज या समुदाय कहे जाने वाले, एक विशेष प्रकार के सप्रदाय या समुदाय की सगठनात्मक विशिष्टताओ के अतिरिक्त और किसी भी रूप मे समानता न रखते हो।

शहरी और ग्रामीण समुदायो की विपमता को छोड़ भी दें, तो भी यह स्पष्ट होना चाहिए कि भारत जैसे देश में सभी ग्रामीण समूह, कृपकों के ही समूह नही है। जैसा कि हमने देख लिया है, भारतीय गाँव अपने स्वरूप मे पृथक् प्रकार का होता है। कुम्बपित्ताई जैसे कुछ ऐसे ग्राम हैं, जहाँ जातियो का परिष्कृत श्रेणीवद्ध संगठन, कृपकों के श्रेणीबद्ध संगठन के समान है। रामपुरा जैसे अन्य ग्राम भी हैं, जिनके निवासी मध्यस्तरीय जातियों के मुख्यत: अल्प-भू-स्वामी हैं, और जो स्वयं अपनी जमीन जोतते है। इन सबके लिए "कृपक समुदाय" जैसे व्यापक शब्द का इस्तेमाल करके, हम ग्रामीण भारत मे कृपि सरचना के प्रकारो में व्याप्त महत्वपूर्ण विभेदों को ढक देते है।

यह विचार कि ग्रामीण भारत एक कृपक-समुदाय का विन्दुपथ है, भारतीय क्षेत्र मे कार्य करने वाले अनेकानेक समाजशास्त्रियो तथा समाज-मानवशास्त्रियों की अनुच्चारित पूर्व-धारणा मालूम पड़ता है। यह कहना कठिन है कि स्वयं रेडफील्ड (Redfield) किस तरह इस विचार के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते, परन्तु उनके उन अनुयायियो के कार्य में इसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं जो भारत में और भारत के बाहर के क्षेत्रो मे काम कर रहे हैं। कुछ समुदायों या समाजों को "कृपक-समुदाय" की विशिष्टता दे देना उपयोगी सिद्ध हो सकता है, परन्तु यह शकास्पद सा ही लगता है कि परम्परागत भारत के मामले में, जहाँ एक ओर तो विस्तृत एवं सुपरिष्कृत जातियों का श्रेणी-बद्ध संगठन है और

दूसरी और जटिल, उलझाऊ कृषि स्तरीकरण है, ऐसा करना समीचीन होगा।

उस प्रत्ययात्मक योजना को, जिसे मैं आलोचनात्मक विश्लेषण हेतु प्रस्तुत करना चाहूँगा, उस रूप में लिया जाना चाहिये, जिसमे वे शास्त्रीय सैमिनार (विचारगोष्ठी) लिये जाते हैं, जो अक्सर भारतीय समाज पर संयोजित किये जाते हैं। इन "सैमिनारों" के लिए यह आम बात है कि ये तीन खण्डो, शहरी समाज, कृपक समाज और जन-जातीय समाज, में विभाजित हो जाते है। इस योजना के पीछे कार्य करने वाले तर्क को आसानी से पकड़ा जा सकता है। भारतीय समाज पहले एक शहरी और एक ग्रामीण खण्ड मे विभाजित होता है। तदुपरान्त, ग्रामीण सेक्टर या खण्ड जनजातीय और गैर-जनजातीय सैक्टर (खण्ड) मे विभाजित होता है। गैर-जनजातीय गाँव ही भारतीय समाज के कृपक-वृत्त की रचना करते हैं। दुर्भाग्य से, यह आसान-सी लगने वाली योजना समाज-मानवशास्त्र के अध्यापन के लिए विभिन्न विश्वविद्यालयों में ग्रहण की जा रही है। छात्रों को पहले तो कुछ शहरी-भारत के विषय में पढाया जाता है और कुछ जनजातीय-भारत के विषय मे पढाया जाता है और तब शेष ग्रामीण-भारत को इस प्रकार लिया जाता है, मानो वही कृपक-समाज को बनाता है। इससे वे परम्परागत भारत मे व्याप्त उस सुपरिष्कृत कृपक-श्रेणीबद्ध सगठन विषयक सुस्पष्टभाव से वंचित रह जाते है, जो आज भी देश के अनेक भागों मे चल रहा है। इसके साथ ही, वे कतिपय ग्राम-अध्ययन जिनके माध्यम से भारत कृपक-समुदाय दर्शाया जाता है, मात्र कृपकों का अध्ययन न होकर, अनेक विपमांग समूहों का अध्ययन है।

रेडफील्ड (Redfield) की उस वैचारिक योजना की छाया को भारतीय समाज के शहरी, कृपक तथा जनजातीय विभाजन मे देखा जा सकता है, परन्तु इस योजना को भारतीय परिवेश मे लागू करने में कुछ आधारभूत असन्तोषजनक बातें है। प्रथमतः इस योजना मे परिकल्पित "कृपक-समुदाय" एक "अवशिष्ट" श्रेणी है, और इसमें वे तमाम असुविधाएँ है, जो अवशिष्ट श्रेणी में होती हैं। इसकी सकल्पना सुस्पष्ट विशेपताओ के आधार पर न होकर, भारतीय ग्राम्य समाज के उस वृत्त या खण्ड के रूप में की गयी है, जो जनजातीय समुदाय को पृथक् करने के उपरान्त शेष रह जाता है। यह अधिकांशत. पश्चिम मे, समाज-शास्त्र और समाज-मानवशास्त्र के विकसित होने के ढंग से हुआ है। हमने यह देख लिया है कि प्रारम्भ में समाजशास्त्र औद्योगिक या शहरी समाजों और समाज-मानव-विज्ञान (शास्त्र) आदिम या जनजातीय समुदायों से संबंधित थे। मध्यम क्षेत्र को, जो अब तक अनाच्छादित था, जबर्दस्ती "कृपक-समुदाय" की संज्ञा दे दी गयी है।

द्वितीयतः जबकि गैर-जनजातीय गाँव अक्सर, स्पष्ट रूप से इतने स्तरित है

कि उन्हे कृपक समूह का नाम दिया ही नही जा सकता, वहीं भारत में अनेक तथाकथित जनजातीय गाँव ऐसे हैं, जो वास्तव मे कृपकों के समुदाय हैं। यदि हम उन छोटी जनजातियो को बाद दे देते हैं, जो यायावर, शिकारी और खाद्य एकत्रित करने वाली जनजातियाँ हैं, तो हम देखते हैं कि अनेक स्थायी जनजातियाँ जो स्थिर-कृपि से गुजारा करती हैं, उन समुदायों में संगठित हैं, जो कृपक समूह की सर्वसम्मत और पुरातन परिकल्पना से अच्छी तरह मेल खाती हैं। मैं तो इससे भी आगे बढ़ूंगा और तर्क दूंगा कि यदि कोई भारत में कृपक समुदाय में रुचि रखता है, तो उसके लिए सन्थाल, ओरावों और मुण्डा लोगों के बीच काम आरंभ करने से और अच्छा स्थान कही नही है। वास्तव मे, मैं जो सुझाव रख रहा हूँ, वह यह है कि कृपक समुदाय की अपनी संकल्पना पर हम न केवल अपेक्षाकृत अधिक आलोचनात्मक दृष्टि डालते हैं, वरन् हम कृपक जनजाति के विभेद को भी, जिसके कि चारो ओर हमारे मानवशास्त्रीय वार्तालाप और चर्चाएँ केन्द्रित दीखती हैं, विस्तार से बार-बार जांचते हैं।

इस बात पर भी जोर दिया जाना चाहिए कि प्रस्तुत मुद्दा केवल पारिभाषिक न होकर, वास्तविक है। यही बात नही है कि मानो भारतीय समाज के एक वृत्त या खण्ड को गलत रूप से "कृपक-समुदाय" की सज्ञा दे दी गयी हो, और उसे पृथक् और ज्यादा उचित संज्ञा देकर हमारी समस्या हल हो जावेगी। मैं यह सुझाव देने से भी काफी दूर हूँ कि "कृपक-समुदाय" की सज्ञा अब उस समूह से जोड़ दी जाय, जिसे हम "जनजातीय समुदाय" कहते आ रहे हैं, जब कि शेप ग्रामीण समाज के लिए एक नूतन संज्ञा सोची जाय।

मेरा उद्देश्य, भारतीय समुदायों के मध्य व्याप्त वास्तविक भेदों और पृथकताओ को ढकना नही है, अपितु उनके यथार्थ स्वरूप पर अधिक प्रकाश डालना है। इन विभेदों की जडे अनेक उपकरणो में निहित है, जिनमें जमीन का वितरण, जोत-अवधि प्रथा, वर्ग और जाति की संरचना तथा कार्य का सगठन, जिसमे पुरुषो और स्त्रियों के मध्य कार्य विभाजन भी शामिल हैं, सबसे महत्वपूर्ण दिखलायी देते हैं। "कृपक समूह" और "जनजातीय समूह" जैसी आम तौर पर प्रयुक्त होने वाली श्रेणियो के प्रयोग की तुलना में इन उपकरणो का विश्लेपण भारत मे व्याप्त ग्रामीण समुदायो मे विभिन्न श्रेणियों की अधिक गम्भीर जानकारी देगा।

"पीजेन्ट्स" या "पीजेन्ट्री" (कृपक या कृपक समुदाय) (Peasants and Peasantry) शब्दो के क्या अर्थ हैं ? चैम्बर्स ट्वेन्टियथ सैंचुरी डिक्शनरी (Chambers's Twentieth Century Dictionary) "पीजेन्ट" (Peasant) के अर्थ "ए कन्ट्रीमैन : एक देहाती, एक ग्रामीण, जिसका पेशा ग्रामीण श्रम है" कहती

है और "पीजेंट्री" (Peasantry) के अर्थ "कृपको के समुदाय अथवा जमीन को जोतने वाले; अनपढ़; ग्रामीण-मजदूर" करती है। अग्रेजी भाषा मे, और साथ ही अन्य यूरोपीय भाषाओ मे भी, ग्राम्य जीवन और श्रमिको के मध्य एक सपर्क या संबंध दिखलायी देता है। प्रौद्योगिक यूरोप मे, "भद्र लोग" अपने मॅनरो (manors) या जागीरो में, नगरों या बड़े शहरो में रहते थे, न कि गाँवो में। प्रत्येक संस्कृति और समाज के लिए ऐसे सबधो की वैधता की कल्पना करना खतरनाक सिद्ध हो सकता है। द शोर्टर आक्सफोर्ड डिक्शनरी "पीजेन्ट" (peasant) शब्द की व्याख्या "एक व्यक्ति जो गाँव मे रहता है तथा खेतो मे काम करता है; एक ग्रामीण; एक अनपढ़ आदमी" करती है। यह डिक्शनरी फिर लघुकोष्ठको मे इतना और जोड़ती है कि अपने प्रारम्भिक प्रयोग मे इसको विदेशी देशो के उन निवासियो के लिए ही काम मे लाते थे, जो "अक्सर निम्नतम श्रेणी के लोग थे—सभ्रान्त (नोबल) का एकदम विलोम।" एलिजाबेथी अग्रेजी मे इसके अपमानजनक संपृक्तार्थ थे—"अरे, मै भी कैसा धूर्त और गुलाम कृपक हूँ"—जो संपृक्तार्थ आज भी कुछ अंशो मे सुरक्षित हैं। वेब्स्टर्स "थर्ड न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी" पीजेन्ट (peasant) की परिभाषा यह देती है—"उस श्रेणी का व्यक्ति जो अल्प स्वतन्त्र भू-स्वामी या भाड़े के मजदूरो के रूप में काम करता है।" वेब्स्टर यह संकेत करता है कि कृपक (पीजेन्ट) मुख्यत एक यूरोपीय वर्ग है। यह शायद यूरोप और उत्तरी अमेरिका के मध्य विपमता को स्पष्ट करने के लिए हो। पीजेन्ट (peasant) का एक अन्य अतिरिक्त अर्थ "निम्न आय का एक अशिक्षित, कुसस्कृत व्यक्ति" दिया गया है।

सामान्य प्रयोगो में, पीजेन्ट (कृपक) शब्द के अनेक निकट रूप से सम्बन्धित सपृक्तार्थ हैं, जिनमें से मै तीन को पृथक् करना चाहूँगा। प्रथम तो कृपक (पीजेंट) भूमि से जुड़ा हुआ है। वह न केवल भूमि के सहारे आजीविका कमाता है, वरन् अपने श्रम से भूमि को फलदायी भी बनाता है। कृपक और भूमि का कानूनी सबंध बदल सकता है। वह एक (भू)-मालिक हो सकता है, एक आसामी हो सकता है, या सीमित मामलो में एक श्रमिक जिसका स्वामित्व या नियन्त्रण पर कोई अधिकार नही है। परन्तु हर मामले मे वह अपनी आजीविका अपने श्रम से अर्जित करता है। इस संरचना के अन्तर्गत, इस शब्द को व्यापक या संकुचित अर्थ दिये जा सकते है। कुछ लोग तो इसे (शब्द को) *मालिक-काश्तकार* मान कर सीमित कर देंगे, और अन्य लोग इस शब्द मे आसामी और भूमिहीन श्रमिको को भी शामिल कर लेंगे।[1] और फिर कुछ लोग इसे *जमीन जोतने वालों* तक सीमित

[1] See Daniel Thorner, 'Peasantry' in David L. Sils (ed) *International Encyclopedia of the Social Sciences*, The Macmillan Company & The Free Press, 1968, Vol. 11, pp. 503-11.

कर देंगे, जबकि अन्य, इनके साथ उन लोगों को भी सम्मिलित कर देंगे जो किसी भी ढंग की मजदूरी करके जिसका जमीन जोतने वाले लोगों से संबंध है आजीविका कमाते है।[2]

द्वितीयतः अधिकाश समाजो में कृषकों को निम्न पद वाला गिना जाता है। यहाँ तक कि वे भी, जो कृषकों की सादगी, उनके कठोर परिश्रम, कमखर्चों आदि गुणो की प्रशंसा करने का दम्भ भरते है, यह स्वीकार करते है कि समाज मे उनका वास्तविक पद ऊँचा नही है। कृषक वर्ग की व्याख्या सामान्यतः कुलीन वर्ग या आभिजात्य वर्ग के विलोम के रूप मे की जाती है। "कुलीनता" और "आभिजात्य" दोनो ऐसे शब्द हैं, जिनके अनेक अर्थ है। उनकी चर्चा करना यहाँ आवश्यक नहीं है। हम "कुलीनता" का प्रयोग बहुत व्यापक रूप में उस वर्ग के संदर्भ में करेंगे, जो जमीन के सहारे आजीविका कमाता है, परन्तु स्वय को मजदूरी में नहीं लगाता। कृषक वर्ग और "कुलीनता" के वैषम्य को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए, विशेषत. तब, जब हम बहुत अधिक स्तरित समाजों की चर्चा कर रहे होते है।

समाज के स्तरण मे कृषक समुदाय की स्थिति पर मात्र आर्थिक दृष्टि से ही विचार नही होता, अपितु सांस्कृतिक अर्थों मे भी होता है। जिस जमीन को वे जोतते हैं, वह उनकी निज की भी हो तब भी यह ध्यान मे रखने की बात है कि वह बड़े, छोटे या मंझोले आकार की होती है तथा उससे होने वाली आमदनी परिवार को किसी तरह से पालती भर है। लेकिन इसके अलावा कृषकों को "अनपढ़ गँवार" समझा जाता है—अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो *अशिक्षित* और *अनपढ* है। यह तो केवल मानव-शास्त्री का काम है कि वह कृषकों के जीवन की शैलियो का अनुसंधान करे। सामान्य अर्थों मे, जिसमे सस्कृति और परिष्कृति समानार्थी समझे जाते हैं, कृषक के पास न तो संस्कृति है और न ही जीवन-शैली।

तीसरे प्रकार के अर्थ राजनीतिक चर्चा की भाषा से निकलते हैं। जिस प्रकार एक माने में कृषक वर्ग कुलीन वर्ग का विलोम होता है, उसी तरह कृषक वर्ग कभी-कभी श्रमिक वर्ग का पर्याय या दूसरा पक्ष है। "कृषक और श्रमिक" का नारा समस्त एशियाई देशों मे समान भाव से ध्वनित होता है। यह नारा कृषको द्वारा सहे गये विभिन्न वर्गों के उत्पीड़न और शोषण की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। यह (नारा) शोषित कृषक वर्ग और उनके शोषकों के मध्य एक स्पष्ट विभाजक रेखा की परिकल्पना करता है।

यदि हम इन सभी प्रकार के अर्थों को मन में रखें तो देखेंगे कि भारत और चीन जैसी समस्त सभ्यताओं के लिए "कृषक समुदाय" जैसा व्यापक शब्द प्रयुक्त

[2] Raymond Firth seems to prefer this broader conception; see his *Malay Fishermen, Their Peasant Economy*, Routledge and Kegan Paul, 1946.

करना, कितना अनौचित्यपूर्ण है। मेरी यह धारणा है कि इस शब्द को भारतीय ग्राम्य-वृत्त के लिए भी इस्तेमाल करना अनुचित है, यद्यपि यह शब्द अन्य समाजो के ग्रामीण खण्डों की व्याख्या कर सकता है। जहाँ तक पृथक् ग्रामीण समुदायो का प्रश्न है, यह देखने के लिए कि वहाँ के कृषकगण अपने सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन मे क्या भूमिका निभाते है और समाज के किन अन्य स्तरो (वर्गो) के साथ उनका सहअस्तित्व है, हमे उनका विस्तार से अनुसधान करना पड़ेगा। ·

शास्त्रीय चर्चा के उद्देश्यो के लिए स्पष्टत. यह पर्याप्त नही है कि अपने आप को आधारभूत कल्पनाओ और श्रेणियो के बहुप्रचलित अर्थो तक ही सीमित रखा जाये। अब हम, अपने से संबधित श्रेणियों की विद्वानो द्वारा प्रस्तावित अनेक परिभाषाओ में से दो परिभाषाओं पर सक्षेप मे विचार करेंगे। सौभाग्य से, ये *उन सर्वमान्य धारणाओं का, जिनसे हमने शुरू किया था, खण्डन नही करती है,* परन्तु उन्हें सुस्पष्टता और कठोरता देती है।

कृषकों के अध्ययन के क्षेत्र मे काम करने वाले मानवशास्त्रियो मे अग्रणी रैडफील्ड ने परिभाषाओ के प्रतिपादन की दिशा मे सतर्कता बरतने को कहा है। उन्होंने इनके (परिभाषाओ के) मनमाने और एकतरफा स्वभाव पर जोर दिया है, क्योकि इन्हे उन यथार्थ समुदायो और सस्कृतियो को समझने के लिए गढ़ा गया है, जो परस्पर थोडी-बहुत भिन्न थी। दूसरे शब्दो मे, प्राथमिक रूप मे यूरोपीय अनुभव के आधार पर कृषको की प्रतिपादित परिभाषा, यूरोपीय वास्तविकता की ही झलक देगी, और उसे भारतीय समाज के अध्ययन के लिए सतर्कता से ही प्रयोग में लाना होगा। यह बात इसलिए अति विचारणीय है क्योकि यह लगता है कि भारतीय मानवशास्त्रियों ने भारतीय कृपकों की विशेष विशिष्टताओं पर पर्याप्त रूप से विचार नही किया है, और उनकी यह धारणा बन गयी है कि उनकी विशिष्टताएँ भी अन्य स्थानों और देशों के कृपको के समान होंगी।

रैडफील्ड द्वारा कृपकों की परिभाषा मे दो प्रमुख तत्व हैं। प्रथम तत्व उनकी आजीविका के तरीके को बतलाता है, और दूसरा उनके समाज के अन्य वर्गों तथा स्तरों के साथ संबंधों को। प्रारम्भ मे, "कृपक वे लघु उत्पादक है, जो अपने उपभोग के लिए पैदा करते है।"[3] परन्तु यह धारणा, जिसका श्रेय रैडफील्ड फर्थ (Firth) को देते है, पर्याप्त विस्तृत है, क्योंकि यह (परिभाषा) एक ओर तो मलाया के मछुओं को समाहित करेगी और दूसरी ओर सिओक्स के शिकारी और

[3] Robert Redfield, *Peasant Society and Culture, An Anthropological Approach to Civilization*, University of Chicago Press, 1956.

खाद्य-संग्राहक को। इस कारण, वे केवल उन्ही लघु उत्पादकों को "कृपक" कहना चाहते है, "जो अपनी आजीविका (स्वयं) अर्जित करते है और उनकी आजीविका का साधन भूमि की खेती करना है।"[4] इसके अतिरिक्त, एरिक वुल्फ (Wolf) का अनुसरण करते हुए, रैडफील्ड "कृपक" (peasant) शब्द को उन लघु कृपिकारों तक सीमित रखना चाहते है, जो अपने ही उपभोग के लिए उत्पादन करते है, और "फार्मर" (farmer) शब्द उन भू-मालिको के लिए जो बाजार मे विक्रय के लिए खेती करते हैं। वे इस बात मे भी वुल्फ का अनुसरण करना चाहते हैं कि इस शब्द को उन अल्प भू-खण्डो के स्वामियों तक सीमित रखा जाये, जो उस भूमि के स्वामी है जिसे वे जोतते है और उस सीमा तक वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र हैं। जब हम उसकी परिष्कृत जोत-सीमा-अवधि से प्रयुक्त भारत की ओर दृष्टि-पात करते हैं, तो हमारा सामना उन समस्याओ से हो जाता है, जिन्हे यह (शब्द का तत्व) खड़ा कर देता है। क्या आसामी (tenant) जिनके पास स्वामित्व के अधिकार हैं "कृपक" (peasant) हैं? "साझीदारो" (share croppers) का क्या होगा, जिनकी कि अनेक श्रेणियां पश्चिमी बगाल जैसे एक ही राज्य मे विद्यमान है?

रैडफील्ड की परिभाषा का दूसरा तत्व "जागीर" कस्बा या शहर के सभ्रान्त "कुलीन" से सबंधित विपमता मे है।[5] इसका कृपक समूह और "कुलीनता" के मध्य वैपम्य से, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, पूरा मेल बैठ जाता है। यह एक महत्वपूर्ण सकेतक है, परन्तु इस प्रतिबन्ध के साथ कि "कुलीन या सभ्रांत वर्ग मॅनर (जागीर), कस्बे या शहर तक ही सीमित न रह कर ग्राम का भी भाग हो सकता है।" दूसरे शब्दों में, मैं जिस बात पर तर्क कर रहा हूँ वह यह है कि कृपको के निम्न स्तर तथा गैर-कृपको के उच्च-स्तर के मध्य जो विभाजन है वह ग्राम और शहर के मध्य विद्यमान विभाजन को प्रस्तुत नही करता, परन्तु ग्राम ही में विद्यमान विभेद की झाँकी देता है।

टियोडोर शानीन[6] की ओर से इसकी परिभाषा देने का प्रयास इस दिशा मे नवीनतम है। शानीन (Shanin) कुछ अन्य विचारो को जोड़ कर, रैडफील्ड द्वारा प्रस्तुत अनेक विचारो को अपनी परिभाषा मे शामिल करते है, और इस दृष्टि से उनकी परिभाषा अधिक व्यापक है। कृपक समुदाय की सामाजिक और सांस्कृतिक विशिष्टताओं के अतिरिक्त, वे उनकी राजनीतिक स्थिति पर भी विचार करते हैं। परन्तु रैडफील्ड की ही भांति शानीन भी "कृपक" (peasantry), "कृपक

[4] Ibid., p. 18.
[5] Ibid., p. 20.
[6] Teodor Shanin (ed.), *Peasants and Peasant Societies, Selected Readings*, Penguin, 1971, 'Introduction'.

(peasant community) और "कृषक समाज" (peasant society) शब्दो को ढीले तौर पर परस्पर परिवर्तनीय रूप मे इस्तेमाल करते हैं ।

शानीन जिसे "कृषक समाज" (peasant society) कहते है, उसका चार निम्नलिखित आधारभूत पक्षो को दृष्टि मे रख कर वर्णन करते है—(1) विमितीय सामाजिक संगठन की आधारभूत इकाई के रूप मे कृषक फार्म · · · (2) आजीविका के प्रधान साधन के रूप में भूमि पर कृषि कर्म, जो उपभोग की आवश्यकताओ के बड़े भाग की भी पूर्ति करता है · · · (3) छोटे समुदायो के जीवन यापन के तरीको से संबंधित विशिष्ट पारम्परिक सस्कृति · · (4) कृषक वर्ग की निम्नस्तरीय स्थिति—बाहरी लोगो द्वारा कृषक वर्ग पर प्रभुत्व ।[7] इनमे द्वितीय और तृतीय विशिष्टताओ पर पृथक् टिप्पणी देने की कोई आवश्यकता नही है, इसलिए हम केवल प्रथम और अन्तिम पर ही अपने विचार देगे ।

कृषि परिवार के उत्पादन और उपभोग दोनो की इकाई के रूप मे प्रमुख महत्व के विषय मे अनेक विद्वानो ने अपने मत व्यक्त किये है। वास्तव मे, लिप्ले (Leplay) तथा टोनीस (Tonnies) जैसे उन्नीसवी शती के समाजशास्त्री यह तर्क देंगे कि कृषकों और औद्योगिको (श्रमिको) के जीवन के तरीको को पृथक् करने वाला तत्व कार्य और अवकाश से युक्त परिवार का सम्पूर्ण स्वरूप है। फिर भी जब हम कृषकों की परिभाषा, किसी परिवार द्वारा खेत मे किये गये कार्य के आधार पर करते है, तब हमे कार्य के वास्तविक संगठन का परीक्षण सावधानी से करना चाहिए । जब स्त्रियाँ या पुरुष किसी विशेष या सभी प्रकार के बाहरी शारीरिक श्रम से वंचित कर दिये जाते है, तब भी क्या उन्हे "कृषक" कहना समीचीन है ?

शानीन का अन्तिम सूत्र, यद्यपि प्रच्छन्न रूप से जोड़ा गया है, रैडफील्ड से एकदम पृथक् दृश्य प्रस्तुत करता है। इसकी व्युत्पत्ति मार्क्सवादी या अधिक उपयुक्त रूप मे लेनिनवादी समाजशास्त्रीय परम्परा से हुई है। रैडफील्ड और लेनिन के कृषक परिप्रेक्ष्यो का अन्तर, ओस्सोव्स्की के शब्दों में समाज के "कार्यात्मक" एवं "विभाजनात्मक" स्वरूपो के मध्य अन्तर को प्रस्तुत करता है ।[8] इनमें प्रथम मत कृषक वर्ग, कुलीन वर्ग और अन्य सामाजिक स्तरो के मध्य सुव्यवस्थित वंधनों पर जोर देता है, जबकि दूसरा मत, कृषको के शोषित वर्ग और उनके उत्पीड़को एवं शोषको के मध्य खाई (दूरी) की ओर ध्यान दिलाता है ।

यह विशेष रूप मे दिलचस्पी का विषय है कि इस अन्तर के बावजूद रैडफील्ड

[7] Ibid., pp. 14–15.

[8] Stanislav Ossowsky, *Class Structure in the Social Consciousness*, Routledge and Kegan Paul, 1963

और शानीन दोनो कृषकों और गैर-कृषकों के पारस्परिक संबंधों को "बाहरी" और "भीतरी" लोगों के मध्य संबंधों के रूप में देखते हैं। दोनो ही ग्राम को कृषकों के अपेक्षाकृत एकांगीय समुदाय के बिन्दुपथ के रूप में आंकते हैं।

ग्राम और कृषक-समुदाय का वैचारिक तादात्म्य, यूरोपीय विचारधारा और यूरोपीय पाण्डित्य दोनों मे गहराई मे जड़ें जमा चुका है। यूरोपीय देशो के विषय मे लिखते हुए, इतिहासकार, विधिवेत्ता और अर्थशास्त्री बार-बार गाँवों को "कृषकों के समुदाय" के रूप मे बताते आये हैं। ठीक इसी प्रकार का विशिष्ट विवरण यदि ऐसा है तो और भी उग्रतम रूप मे यूरोपियन विचारकों के लेखो में भी पाया जाता है। इस वैचारिक तादात्म्य का सर्वोत्तम उदाहरण रूसी *मीर* के इर्द-गिर्द होने वाले उन्नीसवी शती के वाद-विवाद मे और "*नारोद्निकी*" के लेखो के सशक्त विवरणो मे पाया जाता है। मित्रैनी (Mitrany) से लेकर जियोरगैस्क्यू-रोइगन (Georgescu-Roegan) तक के पूर्व-यूरोपीय विद्वानों के लेखो से यही दृष्टिकोण प्रकट होता है। इसलिए, जब मित्रैनी (Mitrany) रूमानिया में कृषि सुधारों के प्रभाव के विषय मे लिखते हैं—वे गांव और उसके कृषको को अन्तर-परिवर्तनीय समझते हैं।[9] गाँव वह स्थान है, जहाँ कृषक रहते हैं और जो गाँव में रहते हैं वे कृषक हैं। इसी प्रकार "आर्थिक सिद्धान्त और कृषि की अर्थव्यवस्था" के विषय में लिखते हुए, जियोरगैस्क्यू-रोइगन, ग्राम और कृषक समुदाय को समीकृत करते हैं।[10] वे गाँव के आर्थिक मामलों को उन नियमों से नियन्त्रित समझते है, जिनकी विभेदक विशिष्टताएँ कृषकों के जीवन के मूलभूत स्वभाव के कारण संभव हैं।

यह कहना कठिन है कि यूरोप मे गाँव का उसकी कृषक-जमात के साथ तादात्म्य, कहाँ तक दृष्टि-भ्रम के कारण है। फिर भी, जो आन्तरिक रूप से काफी विभेदित है, अक्सर दूर से समानागी लग सकता है। जिन लोगों ने पूर्वी या पश्चिमी यूरोप के ग्रामों या कृषक समुदाय के विषय मे लिखा है, वे शहरी बुद्धिजीवी थे, जैसा कि जियोरगैस्क्यू-रोइगन ने ज़ोरदार शब्दो मे मार्क्स के लिए कहा है।[11] यह असंभव नही है कि इन समुदायो के विषय में उनके विचार जरा अस्पष्ट हों, और उन्होने ग्रामों को इतनी समानागता प्रदान कर दी हो, जितनी कि वहाँ नही थी। और भले ही *नारोद्निकी (Narodniki)* को कृषकों की जिन्दगी के विषय मे गहरी जानकारी रही हो, वे रूसी मीर (*Mir*) के विषय मे आधुनिक मानवशास्त्री की भावना से नही लिख रहे थे।

[9] David Mitrany, *The Land and the Peasant in Rumania, The War and Agrarian Reform (1917–21)*, O.U.P., 1930.

[10] N Georgescu-Roegen, 'Economic Theory and Agrarian Economics', *Oxford Economic Papers*, Vol 12, 1960, pp. 1–40. [11] Ibid

इन प्रतिबंधों के बावजूद, यह सामान्य धारणा बन जाती है कि वास्तव में यूरोपियन गाँव अपेक्षाकृत अधिक समभागी और अ-स्तरित समुदाय थे। इसका कारण अंशतः जागीरदारी (manorial) प्रथा का होना था, जो "जागीर" में रहने वाले "जागीरदार" (lord) को तथा उसके "किसान" को उनके गाँव मे पृथक् कर देती थी। नि.सन्देह, यूरोपीय गाँव की बनावट एक भौगोलिक क्षेत्र से दूसरे भौगोलिक क्षेत्र में, और एक ऐतिहासिक काल से दूसरे ऐतिहासिक काल मे जबर्दस्त रूप से बदलती रही थी। परन्तु, सामाजिक स्तरण, सम्भवतः गाँव की आन्तरिक बनावट के लक्षण की तुलना में, उसके बाहरी संसार के संबंधो से अधिक संभव हो सके थे।

यह कहना कठिन है कि कृषक-ग्राम की यूरोपियन छवि ने "गहरे क्षेत्र-कार्य" के दिनों के पूर्व काल मे ब्रिटिश पण्डितो और प्रशासकों की कल्पना और लेखनी को कहाँ तक प्रभावित किया था? हमारे पास यह मान कर चलने का कोई भी कारण नही है कि मेन (Maine) और बैडन पावल (Baden Powell) ने बिना ग्रामीण जीवन और समुदाय की पूर्व कल्पना के भारतीय ग्रामों की ओर रुख किया होगा। जिस गाँव के विषय मे उन्होंने लिखा है, उसको, समकालीन क्षेत्र-कार्य के मानकों से देखते हुए, हम यह कहने की स्थिति मे नही है कि उनकी जानकारी कितनी गहरी थी। उन्होंने गाँवो के भारत की ओर इस विश्वास से रुख किया होगा, जिसे रैडफील्ड ने अभी हाल ही के काल तक अपना रखा था कि "कृषक पुरातन सभ्यताओ के ग्रामीण आयाम" को बनाते है।[12]

यूरोपीय गाँव की यथार्थ रचना और स्वभाव जो कुछ भी हो, रैडफील्ड और शानीन दोनों ने कृषकों की लाभदायक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनमे उनके सरल और अविभेदीकृत चरित्र पर बल दिया गया है। इसके साथ ही, इन परिभाषाओं मे इनके सामान्य अर्थों के काफी नजदीक होने का गुण है। फिर भी ग्रामीण भारत मे, या भारतीय गाँव मे, ऐसे महत्वपूर्ण वर्ग है, जो "कृषक वर्ग" (पीजेन्ट्री) की इस कल्पना से मेल नही खाते, भले ही हम उसे किसी भी दृष्टि से देखें।

जैसा कि हमने देख लिया है, आदर्श रूप से कल्पित कृषक समुदाय अविभेदीकृत तथा अ-स्तरित है। परन्तु, जो कुछ हम प्राप्त ग्राम-अध्ययनो से मालूम करते है, यह है कि भारतीय ग्राम अक्सर बहुत विभेदीकृत तथा स्तरित हैं। इसका अर्थ यह न लगाया जाये कि ठेठ भारतीय गाँवों मे कोई कृषक नही है या यह भी कि भारत में कोई कृषक ग्राम नही है, परन्तु यह भारतीय ग्रामीण समाज के उलझनपूर्ण प्रकार की ओर तथा देश के बहुविध ग्रामो की ओर ध्यान अवश्य आकृष्ट करती है।

[12] Redfield, *Peasant Society and Culture*, op. cit., p. 20.

अपने तर्क को स्पष्ट करने के लिए, हम एक ऐसे भारतीय ग्राम के परीक्षण से प्रारम्भ करेंगे, जो साफ तौर पर कृषकों का समुदाय नही है। यह तमिलनाडु के तन्जौर जिले का एक अग्रहारम गाँव है, जिसे मैंने *श्रीपुरम* कहा है।[13] यद्यपि यह साख्यिकी रूप से शब्द के अर्थों का प्रतिनिधित्व नही करता है, अग्रहारम ग्राम, जिसका उदाहरण श्रीपुरम के रूप में दिया गया है, इस क्षेत्र मे पचास वर्ष पूर्व भी अनजाना नही था। सौन्दरराजा आयंगर दो प्रकार के ग्रामों का जिक्र करते हैं—अग्रहारावादाई, जहाँ ब्राह्मणों का प्रभुत्व है और पाण्डवारावादाई जहाँ अब्राह्मणो का प्राबल्य है।[14] इनमें पाण्डवारावादाई स्पष्टतः आदर्श प्रकार के कृषक ग्राम से नजदीकी मेल खाता था।

श्रीपुरम 349 घर-परिवारों का एक बड़ा गाँव है, जिसकी सामाजिक बनावट बहुत अधिक विभेदीकृत तथा स्तरीकृत है। यह एक प्राचीन गाँव है, और इसकी समृद्ध ऐतिहासिक परम्पराएँ, कम-से-कम उसकी जनसंख्या के शिक्षित वर्ग की जागरूकता का प्रमुख अंग है। यहाँ एक भगवान शिव का पुरातन मन्दिर है जिसमे ग्यारहवी शताब्दी के चोल राजाओ के शिलालेख है। इसके अतिरिक्त, यह एक "पादल स्थलम्" या ऐसा स्थान है जिसका शैव "न्यान्मार" सन्त अपने गीतों मे गुणगान करते है। हाल ही मे, इस गाँव का नाम प्रसिद्ध सन्त सगीतकार त्यागराज के शिष्य के साथ जुड़ गया है, जिन्होंने इस गाँव के नाम के पीछे, शास्त्रीय कर्नाटक सगीत में एक विशिष्ट शैली दी थी।

इस गाँव के 349 घर-परिवारो मे 92 ब्राह्मणो के हैं जो ईंट और खपरैलो के मकानों में, अग्रहारम नाम की पृथक् गली मे रहते हैं। यह कहना जरा कठिन है कि श्रीपुरम के ब्राह्मण, यूरोपीय अर्थो में *कुलीन या सभ्रान्त* वर्ग से मेल खाते हैं या नही, परन्तु उन्हें किन्ही भी सार्थक अर्थों मे कृषक वर्ग के साथ सम्मिलित *नही किया जा सकता है।* वे प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय—भोजन, आवास, वेशभूषा और बोलचाल या संभाषण—मे कृषकों से, जो गाँव के ही एक अंग है, सब प्रकार पृथक् हैं और निश्चयत. वे, परम्परागत आदेशो द्वारा, जमीन जोतने से वंचित है, जो कि कृषक के जीवन का आवश्यक अंग है।

श्रीपुरम और उसी भाँति के अन्य ग्रामों मे रहने वाले ब्राह्मण सामूहिक रूप से "मिरासदार" करके जाने जाते है। *तंजौर का "मिरासदार" न केवल एक* भू-स्वामी और भाड़ा उगाहने वाला है, वरन् एक सुसस्कृत रुचि और प्रचुर अवकाश वाला व्यक्ति है। कोई दस वर्ष पूर्व तजौर के मिरासदार के विषय मे संभवत.

[13] Andre Beteille, *Caste, Class, and Power· Changing Patterns of Stratification in a Tanjore Village*, University of California Press, 1965.

[14] S Sounderaja Iyengar, *Land Tenures in Madras Presidency*, Madras, 1933.

मिरासदार बिरादरी के ही किसी व्यक्ति ने एक लेख प्रकाशित किया था : "अनेक मामलो मे उसने खुद पढा-लिखा है, विशेषत. संस्कृत मे, परन्तु अधिकतर उसने जीवन की राह मे आराम से चलना चाहा। श्रम करने के खुरदुरे काम से सम्पर्क करना उसके लिए नही था। उसने केवल देखना और मनन-चिन्तन करना ही अपेक्षित समझा। फिर भी, वह ऐसा सामाजिक परमुखापेक्षी नही था, जैसा कि इससे आभास मिलता है। वास्तविकता तो यह है कि वह जीवन का कद्रदान था, और उसका अनेक प्रकार से आनन्द लेता था"[15] यहाँ हमे इस शताब्दी के प्रारंभिक भाग मे तंजौर जिले के ब्राह्मण "*मिरासदार*" का एक जीवत और कुछ-कुछ काव्यात्मक चित्रण मिल जाता है।

श्रीपुरम गाँव के ब्राह्मणों ने शताब्दियो से संस्कृत-अध्ययन का अध्यवसाय किया है। वास्तव में, उनके पूर्वजों को इस गाँव मे जमीन देकर इसलिए बसाया गया था कि वे अपने आपको अध्ययन, अध्यापन और धार्मिक अनुष्ठानो के कृत्यों में समर्पित कर दें, न कि भूमि मे खेती करें। अग्रहारम में ऐसे अनेक परिवार है जिनके पूर्वज संस्कृत विद्या की खास शाखाओं मे विशेषता प्राप्त करते थे। इस ग्राम के संपूर्ण ब्राह्मण तो क्या अधिकाश ब्राह्मण भी संस्कृत के ज्ञाता नही हैं। परन्तु वे सभी अपनी साहित्यिक और शास्त्रीय विरासत के प्रति समान रूप से जागरूक हैं, और वे संस्कृत को अपनी बोलचाल की भाषा तमिल की तुलना मे अधिक महत्व देते है।

सारे भारत मे, उत्तर मे कश्मीर से दक्षिण में तमिलनाडु तक, और पूर्व मे पश्चिम बंगाल से पश्चिम मे महाराष्ट्र तक, श्रीपुरम जैसे ब्राह्मण गाँव स्थित हैं। सभी ब्राह्मण-सम्प्रदायो ने संस्कृत-अध्ययन-अध्यापन की अपनी विरासत को नही बनाये रखा है, और सभी ब्राह्मणो के पास आम अर्थों मे प्रयुक्त संस्कृति की समान मात्रा नही होती। परन्तु सर्वत्र उनके जमीन पर काम करने के विरुद्ध आनुष्ठानिक (धार्मिक) प्रतिबन्ध है, और जैसा कि हमने देख लिया है, यही जमीन जोतना किसी को कृषक बनाता है।

ब्राह्मणो की ही वह एकमात्र श्रेणी नही है, जिसके जीवन का पारम्परिक ढंग उसे जमीन की खेती करने से वंचित करता है। उच्च (ठीक) जाति और वंश-परम्परा के राजपूत भी धार्मिक परम्पराओं द्वारा हल के प्रयोग से वंचित किये गये थे। इसके अतिरिक्त राजपूतों का अधिक अंश "जागीर", कस्बे या नगर में नही रहता था, परन्तु ग्रामीण-समुदाय के अपरिहार्य अंग ग्रामीण-क्षेत्र मे रहता था। राजस्थान वह राज्य है जहाँ राजपूत अपनी अधिकाधिक विशिष्टताओं मे पाये जाते है। राजकुंवरों, ठिकानेदारों और जागीरदारों के अतिरिक्त, शेखावती के *भूमिया*

[15] Published in the Madras weekly, *Swarajya*, Vol. 5, 1961, No. 45, p. 13.

जैसे कुछ अपेक्षाकृत निम्न राजपूती श्रेणी के लोग भी हैं, जो शताब्दियों से अपनी जमीन पर आसामियों या निम्न जाति के लोगों द्वारा खेती कराते आ रहे हैं ।[16]

कुछ लोगों ने यह सुझाया कि हल चलाना और शारीरिक काम से बचना आम तौर पर पवित्रता और प्रदूषण के प्रति धार्मिक रुखो पर आधारित है, और इसलिए मुख्यतः जाति (वर्ग) का प्रश्न है, परन्तु यह अत्यन्त उलझा हुआ विषय है । संभ्रान्त, कुलीन और उच्चवर्गीय मुसलमानो मे भी, समस्त ग्रामीण भारत में, शारीरिक श्रम के प्रति वितृष्णा की उतनी ही जोरदार भावना है, जितनी कि उच्चवर्गीय हिन्दुओ मे । बर्दवान जिले के गाँवो में मेरा सामना मुसलमानो की दो श्रेणियों से हुआ था—*अयामदार* या जमीदार, और *चाशी* या किसान; अयामदार श्रेणी के लोग अपनी स्त्रियो को पर्दे में रखते थे और जमीन नही जोतते थे । जैसा कि सर्वविदित है, ये अन्तर उत्तर प्रदेश और पुरानी हैदराबाद रियासत मे अधिक स्पष्ट हैं ।

फिर श्रीपुरम की ओर वापिस चलने पर हम देखते हैं कि इस गाँव में केवल मिरासदार ब्राह्मण ही नही रहते हैं, और हमें इस गाँव की आबादी के अन्य वर्गों की ओर दृष्टिपात करना चाहिये । यहाँ रहने वाली जातियो का सबसे बड़ा समूह गैर-ब्राह्मण कही जाने वाली विस्तृत श्रेणी का है और इस श्रेणी में काश्तकार और मजदूर दोनो है । खेती करने वाली जातियो के तीन समुदाय हैं जिनमे वेल्लाल, कल्ला और पदयाची प्रमुख हैं । विस्तृत अर्थों मे, इन्ही समुदायों के लोग ग्राम के कृषक वर्ग थे, यद्यपि वे मालिक काश्तकार न होकर आसामी थे । इसके अतिरिक्त, इन्हे सख्त और गन्दे कामों मे परिया और पल्ला भूमिहीन मजदूरों से मदद मिलती थी ।

श्रीपुरम गाँव के ठीक विपरीत, किला उलूर का गाँव है, जो तजौर ज़िले के एक अलग भाग में बसा है, जिसका वर्णन गिलबर्ट एतियें (Gilbert Etienne) ने किया है ।[17] मुझे लगता है कि किला उलूर को व्यापक अर्थों में एक कृषक ग्राम कहा जा सकता है, यद्यपि वहाँ गैर-ब्राह्मण और हरिजनो सहित अनेक प्रकार की भिन्न जातियाँ हैं, और यहाँ सब घर-परिवार, मालिक-काश्तकारो के नही है । इसकी आधी से भी अधिक आर्थिक दृष्टि से सक्रिय जनसख्या मालिक-किसानो की है, और साझेदारी कम महत्व रखती है,[18] यद्यपि यहाँ काफी संख्या में भूमिहीन

[16] I am grateful for the information on the *bhomias* to Anand Chakravarti whose study of a *bhomia* village in Jaipur district is to be published soon

[17] Gilbert Etienne, *Studies in Indian Agriculture,' The Art of the Possible*, University of California Press, 1968

[18] Ibid., p. 207.

किसान भी रहते हैं। किला उलूर में मिरासदार ब्राह्मण या किसी अन्य प्रकार के वार्षिकी-भोगियों की पृथक् श्रेणी नहीं रहती है।

श्रीपुरम के वेल्लाल, किला उलूर के कल्ला, रामपुरा के ओक्कालिगा और सारे देश में ऐसे ही अनेक समुदाय, अक्सर "कृषक" या खेती करने वाली जातियों के रूप में वर्णित किये जाते हैं। इस व्यापक विभेदीकरण को सावधानी से जाँचना चाहिए। जबकि तंजौर के ब्राह्मण, और जयपुर के राजपूत, सुनिश्चित रूप से अ-कृषक या खेती न करने वाले वर्ग या समुदाय कहे जा सकते है, क्योंकि उनके जीवन की परम्परागत शैली खेती के कार्य को वर्जित रखती है, मध्य तबके की बड़ी जातियाँ इतनी विषमांगीय हैं कि उनको किसी एक व्यापक श्रेणीकरण मे समाहित नही किया जा सकता।

जब हम तमिलनाडु के वेल्लाल, पश्चिम बंगाल के सद्गोप या महाराष्ट्र के मराठा जैसी जातियों पर विचार करते हैं, तब हमको इनमे विद्यमान प्रत्येक जाति के आन्तरिक विभेदीकरण और स्तरीकरण को ध्यान में रखना होगा। यदि हमारी रुचि कृषि-सामाजिक संरचना मे है, तो हमे सूक्ष्म-विश्लेषण अथवा ग्राम-अध्ययनों की सतह पर, इन मामलों मे, जातियों या उपजातियो को नही, वरन् परिवार या घर-संसार को विश्लेषण और अनुसंधान की इकाई के रूप मे लेना होगा। हम, तब यह देखेंगे कि वेल्लालो के कुछ परिवार (या सद्गोपों अथवा मराठों के परिवार) शब्द के वास्तविक अर्थो मे किसान नही है, और अनेक अन्य परिवार स्पष्टतः कृषक हैं और अन्य परिवार वास्तविक उत्पादन की भूमिका के हिसाब से सीमान्त रेखा की स्थिति मे ठहरते हैं।

बर्दवान जिले मे क्षेत्र-कार्य करने के दौरान मुझे यह अनुभव हुआ कि सद्गोपों के कतिपय परिवार, जिन्हें मैंने तब तक कृषक वर्ग का समझ रखा था, खेती के वास्तविक कार्य में हिस्सा नही लेते थे, यद्यपि वे गाँवों मे रहते थे और उनके पास मात्र सामान्य विस्तार की जमीन थी। वे अपनी भूमि मे या तो साझीदारों या भाड़े के मजदूरों द्वारा खेती कराते थे। मुझे यह बाद मे विदित हुआ कि श्रम-शक्ति से विलग हो जाना, किसी व्यक्तिगत स्वभाव विशेषता का विषय न होकर, परिवार की प्रतिष्ठा और स्थिति की सामाजिक रूप से परिभाषित कल्पना से जुड़ा हुआ है। अब, जब कि अनेक संबंधित परिवार खेती के वास्तविक कार्य से किन्ही प्रत्यक्ष सामाजिक कारणो से कम-से-कम पिछली दो या तीन पीढ़ियों से अलग हो चुके है, वे मेरी दृष्टि मे कृषक नही रह गये हैं।

यदि हम अपने अन्वेषण को, जाति या उपजाति से हटाकर परिवार या घर-संसार की ओर संयोजित करते हैं, तो निश्चित रूप से हमें सारे [illegible] तथाकथित कृषक जातियों मे अनेक "रद्द कृषकों" के [illegible] । इस प्रकार का अन्वेषण या खोज, ऐसे अनेक सीमान्त[illegible] घर-परिवारों के

मामलों को उद्घाटित करेगी, जिनकी स्थिति और पद हमारी दृष्टि में अस्पष्ट है। इनमें सर्वप्रथम वे परिवार होंगे, जिनके सदस्यों ने हाल ही में श्रम शक्ति से अपने आप को वियुक्त कर लिया है। वे अपनी जमीन को या तो साझीदारो को दे देते है या उसे भाडे के मजदूरों से जुतवा लेते हैं और कभी-कभी स्वयं यथार्थ कृषि कार्य मे लगे रहते हैं, और दूसरे तरीकों से कृषक शैली का जीवन यापन करते है।

इस प्रकार की अस्पष्टता के पीछे अधिक महत्वपूर्ण उपकरण भारतीय समाज मे स्त्रियो की स्थिति से संबधित है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वास्तविक अर्थों में एक "कृषक घर-परिवार" वह है, जहाँ परिवार के सभी सक्रिय स्त्री-पुरुष सदस्य खेतो में काम करते है। हम उन परिवारों को किस दृष्टि से देखेंगे, जिसमें पुरुष तो खेतों में काम करते है, परन्तु स्त्रियाँ परम्पराओं से ऐसे कामों से वर्जित की जाती है? ऐसे परिवारों को कृषक परिवारो के रूप में देखा जाना चाहिए अथवा नही? यह प्रश्न, कृषि के उन तरीको में विशेष महत्व प्राप्त कर लेता है, जैसे भीगे धान की खेती, जो स्पष्ट रूप से लिंग के आधार पर किये गये परिष्कृत श्रम-विभाजन पर निर्भर रहती है, और जहाँ स्त्रियो के सहयोग के बिना काम पूरा नही हो सकता। सर डेन्जिल इबटसन (Sir D. Ibbetson) की टिप्पणी कि "जाट अपने आप को उतनी ही बार जमींदार या 'भूमि का मालिक' कहता है जितनी बार वह अपने आप, उसकी स्त्री, तथा उनके बच्चे उसके साथ खेत में काम करते हैं,"[19] समस्त जाट कृषक समुदाय के लिए कहाँ तक सही बैठती है नही कहा जा सकता। परन्तु यह उन समस्त परिवारों के लिए ठीक नहीं है, जो कि कृषक जाति के कहे जाते है।

हमारे पास, ग्रामीण भारत के विभिन्न स्तरो मे स्त्रियों द्वारा घर के बाहर किये जाने वाले काम की अत्यन्त अल्प सुनिश्चित सूचना है। जिस हद तक हम कृषि क्षेत्र के काम के सगठन के विषय में योजनाबद्ध रूप से चर्चा करते है, वह हम पूर्णतः पुरुषो के दृष्टिकोण से करते है। यह विशेषतः दुर्भाग्यपूर्ण है, क्योंकि भारत मे स्त्रियाँ क्या करें और क्या न करें यह अक्सर परिवार के दर्जे और स्तर का इस की तुलना मे अधिक सवेदनशील संकेतक है कि पुरुषों में क्या प्रचलित और क्या अनुज्ञप्त है। यह मानना तर्कसंगत लगता है कि खेती नहीं करने वाले भू-स्वामियों का परिवार, सामाजिक सीढी मे एक कदम नीचे उतर आता है, जब उसके पुरुष

[19] Cited in *Panjab Castes, Being a reprint of the chapter on 'The Races, Castes and Tribes of the People' in the Report on the Census of the Punjab published in 1883 by the late Sir Denzil Ibbetson, K.C.S.I.*, Languages Department, Panjab, 1970, p. 103.

सदस्य खेतों में काम करने चले जाते हैं, परन्तु वह परिवार तब अनेक सीढ़ियाँ नीचे उतर जाता है, जब उसकी स्त्रियाँ खेतो मे काम करने चली जाती हैं, और यदि यह हिन्दुओं के लिए सही है, तो मुसलमानो के लिए और भी सही है।

पद या स्तर की गतिशीलता की प्रक्रिया को, जिसे श्रीनिवास "संस्कृतिकरण" कहते हैं, इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। जब "ठेठ" कृषको का परिवार, जिसने अपनी आर्थिक स्थिति सुधार ली है, अपने सामाजिक दर्जे मे ऊँचा उठना चाहता है, या उसे ऊँचा करना चाहता है, तो वह परिवार पहले अपनी स्त्री सदस्याओं को खेतों के काम से अलग करता है, और तदुपरात पुरुषों को । इस प्रक्रिया मे हमें अनेक कदमो का सिलसिला देखने को मिल सकता है। स्त्रियों को पहले अन्य लोगों की खेती की मजदूरी के काम से पृथक् कर दिया जाता है। इसके उपरांत उन्हें (स्त्रियों) परिवार की खेती के काम से अलग हटाया जाता है। अन्त मे, पुरुष या तो अपने आपको खेती के काम से हटा लेते है, या कृपक के काम को *निरीक्षक* के काम मे बदल देते है।

भारतीय कृषि-क्षेत्र मे स्त्रियों की भूमिका विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, क्योंकि इस मामले मे भारत, दूसरे बड़े कृषि-समुदाय चीन से आमूल रूप में भिन्न है। मैं यहाँ साम्यवादी क्रान्ति के, जिसने कि प्रत्यक्षतः पुरुषो और स्त्रियों के संबंधो मे जबर्दस्त परिवर्तन ला दिये है, बाद के चीन का जिक्र नही कर रहा हूँ, परन्तु साम्यवादी क्रान्ति के पूर्व के चीन में व्याप्त स्थिति की बात कर रहा हूँ। परम्परागत चीन की कृषि-जमातो के विषय में हमारी सामग्री जरूर ही अत्यन्त सीमित है, और इस विषय मे हमारा निरीक्षण सावधानी से किया जाना चाहिए और उसे कामचलाऊ या अस्थायी रहना चाहिए। परन्तु जो कुछ भी प्रमाण हमारे पास हैं उनसे यही पता चलता है कि भारत की तुलना मे, चीन में, स्त्रियों ने परिवार के फार्म मे, स्तरीकरण की व्यवस्था के कही अधिक व्यापक क्षेत्रो मे विशेष अधिक सक्रिय भूमिका निभायी है।

चीनी मानवशास्त्रियों द्वारा किये गये कुछ ग्रामीण-अध्ययनों से हमे ज्ञात होता है कि वहाँ स्त्री और पुरुष दोनो सक्रिय रूप से "फार्म" (खेतों) में काम करते है। ऐसा नही है कि ये समुदाय सर्वथा अ-स्तरित है, परन्तु गाँव मे जैसा भी स्तरीकरण है, वह उन परिवारों के जिनके सदस्य दूसरो के लिए और स्वयं अपने लिए काम करते हैं, और उन परिवारो के मध्य, जिनके लिए अन्य लोग काम करते है, एक सरचनात्मक दरार या खाई का रूप धारण नही करता है। वास्तव मे, अच्छे खाते-पीते परिवारों के सदस्य भी मजदूरी के लिए, उनके लिए काम कर सकते हैं, जो कि स्वयं उनकी तुलना मे उतने समृद्ध नही हैं; ये ही कृषको के उचित परिवार है।

इसका यह आशय नही है कि वहां (चीन में) लोग आर्थिक रूप से समृद्ध हो जाने के उपरान्त कृषि-कार्य से अलग नही होते। परन्तु जो कुछ भी हमें फी (Fei) बतलाते है, वह यही है कि चीन में ऐसे मामलो मे पहले पुरुष खेती के काम से अलग होते हैं, और स्त्रियो को खेती का काम करने दिया जाता है। पूर्वोक्त यह कथन कि भू-स्वामियों में अपने फार्म या जमीन में काम न करने की प्रवृत्ति है, इस तथ्य द्वारा खण्डित हो सकता है कि समस्त परिवारो की, यहाँ तक कि बडे विस्तार वाले फार्मों वाले *परिवारो की भी, स्त्रियाँ निरपवाद रूप से कृषि-कार्य* करती है। फसल काटने के समय, उन स्त्रियों को छोड़ कर, जो श्रमिकों के लिए खाना पकाने में व्यस्त रहती है, गाँव मे प्राय. प्रत्येक स्त्री खेतो मे परिश्रम करते देखी जा सकती है, जबकि, छोटी लड़कियाँ, जो काम करने मे नितात असमर्थ हैं, घर में बच्चो को सम्भालती है।[20]

फी (Fei) एक विशेष ज़मीदार का वर्णन करते है, जो आराम की जिंदगी बसर करता था, परन्तु "उसकी सुदरी युवती लड़की, व्यस्त फसल के मौसम में किसी भी दिन या तो अपने पिता के फार्म मे या किसी अन्य के खेत मे काम करती देखी जा सकती थी।"[21] ये निरीक्षण भारतीय समाज के विद्यार्थी को इतने चौकाने वाले लग सकते हैं कि वह उनकी सच्चाई पर शंका कर सकता है, यदि ये फी शाओ-त्तुंग के अधिकारपूर्ण कथन से समर्थित नहीं होते।

यह स्पष्ट है कि फी एक विशेष गाँव की कोई इत्तफाकिया बात नही बतला रहे हैं, क्योकि उनकी जो परिकल्पना है, वह कृषि-कार्य में स्त्री और पुरुषों के असमान योगदान के विषय मे बतलाती है। "फार्म श्रम के विषय में चर्चा करते हुए, किसी पिछले अध्याय में हमने इस तथ्य पर ज़ोर दिया था कि बहुत धनाढ्य घरों मे भी, स्त्रियाँ और लड़कियाँ फार्मों या खेतों में काम करती है। यद्यपि यह न्यायोचित मालूम नही पड़ता कि स्त्रियाँ, अपने बँधे पाँवो से मिट्टी मे परिश्रम करती रहें और पुरुष अपना समय आराम करने मे बितायें, फिर भी परिवार की सपत्ति-विषयक सरचना का परीक्षण इसे स्पष्ट करता है कि घर-परिवार की अर्थ-व्यवस्था में एक संतुलन और पारस्परिकता है।"[22]

संक्षेप मे दलील यह है कि चूँकि पुरुष (स्त्रियाँ नही) भूमि के स्वामी होते हैं, वे ही स्वभावतः अपनी सुविधा के लिए इस बात का फैसला करते हैं कि किसे मेहनत और श्रम से अवकाश मिले।

फी का सिद्धान्त अत्यन्त सतोषजनक नही है। भारत मे भी भूमि पर पुरुषो का ही अधिकार होता है, और अनुमानतः वे ही इस बात का निर्णय लेते हैं कि

... Rural

परिवार के कौन-से सदस्यों को कृषि-श्रम से और किस क्रम से छुट्टी मिलनी चाहिए परन्तु इस देश मे, स्त्रियां पहले और बाद मे पुरुष काम से पृथक् किये जाते हैं, और समृद्ध और उच्च-प्रतिष्ठित परिवारो में, स्त्रियो के मजदूरी के लिए अन्य लोगो की भूमि पर काम पर जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

वास्तव मे, कृषि-क्षेत्र में सब कुछ मिलाकर स्त्रियो की भूमिका और कृषक-परिवार मे श्रम-विभाजन, सम्पत्ति के अधिकार की सरचना से प्रभावित नही होता, परन्तु पद-प्रतिष्ठा, इज्जत और पवित्रता की बहुविध परिकल्पनाओं से नियन्त्रित होता है। ये परिकल्पनाएँ सास्कृतिक रूप से सुनिश्चित है, जिसका अर्थ है कि ये अपने क्षेत्र और महत्व मे एक समाज से दूसरे समाज में बदलती रहती हैं, और एक ही समाज मे एक स्तर से दूसरे स्तर मे। यदि हमें कृषक घर-परिवारो या कृषक-समुदायो का अधिक सार्थक अर्थो मे अध्ययन करना है, तो हमे इन विश्वासों, मूल्यो, भावनाओ पर अधिक ध्यान देना होगा, विशेषत: जब हम एक समाज की तुलना दूसरे समाज से करते है।

हिन्दू समाज में स्त्रियो की पवित्रता अपने आप मे चर्चा का अलग विषय है, और इस पर, विवाह, नियम और प्रथाओं[23] के सदर्भ मे, विस्तार से चर्चा की जा चुकी है। इस पर समाजशास्त्रियो ने अभी तक योजनाबद्ध रूप से, अतिरिक्त घरेलू काम के, विशेषत: उस प्रकार के काम के जिसमें स्त्री और पुरुष दोनो को काम करना पड़ता है, सदर्भ मे चर्चा नही की है। यह आम तौर पर ज्ञात है कि पवित्रता और प्रदूषण की धारणाएँ विशेष जाति के सदस्यो को जमीन जोतने से वंचित कर देती हैं, जबकि अन्य लोगों को जमीन मे काम करने की इजाजत देती हैं। यदि हम इस बात को याद रखें कि पवित्रता और प्रदूषण की धारणाएँ स्त्रियों और पुरुषों पर भिन्न-भिन्न रूप से लागू होती हैं, तब हम घरेलू अर्थ-व्यवस्था का अपेक्षाकृत अधिक विभेदीकृत चित्र पाते है।

यदि धार्मिक पवित्रता की धारणा हिन्दू धर्म के लिए सुनिश्चित है, तो सामाजिक प्रतिष्ठा की धारणा अधिक सामान्य है, और हिन्दू और मुसलमान दोनों पर लागू होती है, यद्यपि संभवतः भिन्न-भिन्न ढंग से। पर्दे की प्रथा, भारत मे, मुसलमानो में, शताब्दियो से प्रतिष्ठा का प्रमाणाक रही है, और अभिजातवर्गीय गरीब मुसलमानो के लिए परिवार के आर्थिक साधनों पर जबर्दस्त भार डालती रही है—और अब भी डाल रही है। हिन्दुओ मे, राजपूती ढंग से रहने वालों को ऐसी ही धारणाएँ प्रभावित करती हैं, और यह सर्वविदित है कि समस्त हिन्दी

[23] Nur Yalman, 'On the Purity of Women in the Castes of Ceylon and Malabar', *Journal of the Royal Anthropological Institute*, Vol. 93, Part I, 1963, pp. 25-8.

भाषा भाषी क्षेत्र मे राजपूती शान का दावा करने वाले परिवारों का होना सामान्य बात है।

हम उस आसान परिकल्पना से, कि ये सब स्त्री और पुरुष जो गाँवों मे रहते है, किसान कहे जाने चाहिए, बहुत दूर आ चुके है। भारतीय गाँव की जनसंख्या अक्सर जबर्दस्त रूप से स्तरीकृत है और इनमे से अनेक स्तर कृषकों से प्रत्येक अर्थ में स्पष्टतः भिन्न हैं। यद्यपि हमें, जाति का विचार करने से, इस स्तरीकरण के क्रम की विस्तृत जानकारी प्राप्त हो जाती है फिर भी वह पर्याप्त नही है। विशे-षतः *श्रेणीबद्ध समाज के मध्य मे स्थित समूहो की तुलनात्मक रूप से सुस्पष्ट और* एकदम सही तस्वीर प्राप्त करने के लिए, हमें परिवार को इकाई के रूप मे लेना होगा और विशेषकर घरेलू क्षेत्र मे और उसके बाहर स्त्री और पुरुषों के मध्य श्रम-विभाजन का परीक्षण करना होगा।

भारत मे भिन्न-भिन्न प्रकार के गाँव हैं। कुछ तो साफ तौर पर कृषक ग्राम हैं, जबकि अन्य गाँवों मे गैर-कृषक, कृषकों के साथ सह-अस्तित्व मे रहते हैं, और कभी-कभी उनसे संख्या के हिसाब से न सही, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रभाव के हिसाब से अधिक प्रभावशाली हो सकते हैं। यह सभव है कि भिन्न क्षेत्रो मे, भिन्न प्रकार के ग्राम आधिपत्यपूर्ण होते हैं, यद्यपि प्रत्येक बड़े क्षेत्र मे अनेक प्रकार के गाँव होगे।

समापन में, जिस पर मैं जोर देना चाहूँगा—वह "कृषक वर्ग" और "कुलीनता" का सहअस्तित्व है, जो अनेक भारतीय गाँवो की सामान्य विशेषता है और कुछ गाँवों की निजी विशिष्टता। यह यूरोपीय ग्राम्य परिकल्पना और यूरोपियन वास्तविकता से पृथक् है। परन्तु, इस प्रश्न पर अधिक विश्वास से कह सकने के लिए, हमे तथ्यो के अधिक पूर्ण अनुसधान की जरूरत होगी। यह मेरा विश्वास है कि "कृषक समाज" की अस्पष्ट और सदिग्ध परिकल्पना, जो समाजशास्त्रियो और समाज-मानवशास्त्रियो में प्रचलित है, इस प्रकार के अनुसधान के मार्ग मे एक अवरोध है।

सबसे दिलचस्प तुलना भारत और यूरोप के बीच न होकर, भारत और चीन के मध्य होगी। हमने देख लिया है कि इन दो बड़े एशियाई देशों के मध्य उनके परम्परागत उत्पादकीय सगठनों मे कुछ पार्थक्य है। यदि हम फी (Fei) के "प्रामाणिक" विवरणो और अपने "परीक्षणो" का आधार लेते है, तो हम देखते हैं कि इन दो देशो में फार्म में स्त्री के प्रति रुखों मे स्पष्ट अन्तर है। इसके साथ ही, चीनी *मानवशास्त्रियो द्वारा अध्ययन किये गये सभी गाँव या तो कृषक समुदाय के हैं या* उनसे नजदीकी मेल खाते है, जबकि यह अन्तर अंशतः ग्रामो के दो सैटो को छाँटने के लिए प्रयुक्त मापदण्डो के कारण संभव हुआ हो।

चीन मे कृषक समाज का "बाहरी" आधिपत्य, फी (Fei) द्वारा किये गये महत्व-

पूर्ण निरीक्षणों से सम्बन्धित हो सकता है। चीन मे कृपक वर्ग और कुलीनता की चर्चा करते हुए फी यह दावा करते है कि इन देशो मे न केवल सामाजिक वरन् पारिस्थिकीय पार्थक्य भी है। वे कहते है कि "कृपक समुदाय और कुलीन वर्ग का वैषम्य उनकी पारिस्थितिकीय अवस्थाओं को दिखाकर भी प्रदर्शित किया जा सकता है।"[24] कृपकों के लिए गाँव के अन्दर रहते हुए अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारना संभव नही है। इसलिए यह जरूरी है कि धनाढ्य वर्ग गाँव से दूर रहे। वह स्थान जहाँ वे (धनाढ्य) अपनी सत्ता और सम्पत्ति को बनाये रखते हैं, शहर है।"[25] जब कि भारत मे, नगर सभ्यता के महत्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं, फिर भी गाँवों के अन्दर भी, समृद्ध व्यक्ति के लिए, अपनी सत्ता और समृद्धि को बनाये रखने के अनेक अवसर हैं।

[24] Fei Hsiao-Tung, 'Peasantry and Gentry in China, An Interpretation of Chinese Social Structure and its Changes' in Reinhard Bendix and Seymour Martin Lipset (eds), *Class, Status and Power, A Reader in Social Stratification*, Routledge and Kegan Paul, 1954, p. 637.

[25] Ibid.

4

जनजाति और कृषक वर्ग

कृषक वर्ग के अध्ययन में विद्याध्ययन की अनेक धाराओं का योगदान है । कृषक वर्ग के सामाजिक सगठन और उसके संस्कार के बारे मे इतिहासकारों, अर्थशास्त्रियों और सामाजिक नृशास्त्रियो ने कई तरह से हमारे ज्ञान को समृद्ध किया है । इन विभिन्न धाराओं का अध्ययन करने वाले विद्वानों द्वारा कृषक वर्ग के चरित्र-चित्रण में कुछ अन्तर देखे जा सकते हैं । इसके लिए अंशत:, कम-से-कम सतही तौर पर, वह प्रयोगसिद्ध सामग्री उत्तरदायी है जिसे इन्होने काम मे लिया है । पर अपने-अपने विषय-विशेष से जिन सैद्धान्तिक प्रश्नो और अवधारणा-योजनाओ को वे साथ लाये हैं उनका अन्तर भी इसके लिए कम उत्तरदायी नही ।

इस अध्याय में कृषक वर्ग के अध्ययन मे मुख्यतः नृतत्वशास्त्र की धारा के योगदान का परीक्षण किया जाएगा । इस योगदान की प्रमुख विशेषता कृषक वर्ग के विश्लेषण के लिए प्रयोगसिद्ध सामग्री की समृद्धि है । यह प्रयोगसिद्ध सामग्री न केवल समृद्ध थी बल्कि बिल्कुल नयी किस्म की भी थी । पहली बार ऐसा हुआ कि कृषक वर्ग का पहली बार अध्ययन कर रहे अध्येता ऐसा उन्ही के बीच रहकर कर रहे थे—विस्तार से और विधिवत् कृषक जीवन के विविध पक्षो का परीक्षण वैसे ही करते हुए जैसे वे किये जाते हैं ।

तथापि हमे यह नही भूलना चाहिए कि कृषक वर्ग का अध्ययन करने के पहले नृशास्त्री जनजातियों के अध्ययन मे विशेषज्ञता प्राप्त कर चुके थे । सिद्धान्तों, अवधारणाओं और पद्धतियो का उनका भंडार आदिम, प्राक्-साक्षर और जनजातीय समुदायो के उनके अध्ययन के दौरान गढा गया था और स्वाभाविक ही था कि

इनका प्रभाव कुछ सीमा तक न केवल कृपक वर्ग संबंधी उनकी गवेपणाओं बल्कि उनके निरूपण (चरित्र-चित्रण) पर भी पड़ेगा । अतः यह समझने के लिए कि नृशास्त्रियो ने कृपक वर्ग को किस नजरिये से देखा, हमारे लिए इस वात को कुछ-कुछ जानना जरूरी है कि इससे पहले इन्होंने जनजातियों को कैसे देखना शुरू किया था ।

इस पेशे से बाहर के लोगों ने आरम्भ में जटिल समाजों में ग्रामीण समुदायो के नृशास्त्रीय अध्ययन को यदि संदेह की नही तो गलतफहमी की दृष्टि से देखा था । मुझे एक प्रतिष्ठित जापानी विद्वान् ने बतलाया कि सूये मुरा[1] पर एम्ब्री के अध्ययन की कमजोरी यह है कि इसमे जापानी ग्राम को एक आदिम जनजातीय समुदाय के रूप में दर्शाया गया है । इस तरह की आलोचना का मुख्य आधार यह है कि जापानी ग्राम (या भारतीय ग्राम) की आतरिक संरचना की जटिलता का जो स्तर होता है वह उससे बिल्कुल भिन्न है जिसके दर्शन हमें जनजातीय समुदाय में होते हैं ।

यह नही कि नृशास्त्रियों को जटिल संरचनात्मक समस्या से निवटने का अभ्यास नही, वल्कि वास्तविकता यह है कि जनजाति सवधी अपने काम ने उन्हे जटिलता के कुछ प्रकारो ही को, सव नहीं, ढूंढ निकालने मे दीक्षित किया है । और भी स्पष्ट शब्दों मे, नृशास्त्री सगोत्रीय और वंशगत संरचनाओं को खोज निकालने मे विशेष निपुण थे पर कुल मिलाकर वर्ग और सामाजिक स्तरीकरण से निवटने मे अपटु । इसी कारण, कम-से-कम अपने प्रारम्भिक ग्रामीण अध्ययनों मे उन्होंने संरचनात्मक विपमताओ की या तो उपेक्षा की या इन पर कम ध्यान दिया । परिणामस्वरूप बहुत भिन्न किस्म के (सभी) गांव कृपको के समुदायों के रूप में देखे जाने लगे । इससे पैदा होने वाली अस्पप्टता को कृपक-वर्ग-संबंधी नृशास्त्रीय लेखन मे देखा जा सकता है । उदाहरणतः हमें वताया जाता है कि वर्ण और वर्ग के आधार पर आतरिक विभाजन के मामले मे कृपक ग्राम विपमांग हैं ।[2] ऐसी सभावना कम है कि खेतिहर किसानों को एक वर्ग या स्तर के रूप मे देखने का आदी कोई इतिहासकार या अर्थशास्त्री इस शैली का प्रयोग करेगा । क्योंकि यदि कृपकों को एक वर्ग-विशेप के रूप मे लिया या देखा जाय तव "कृपक वर्ग" का उपयोग एक ऐसे समुदाय के लिए नही किया जा सकता जो स्वयं आतरिक रूप मे विभिन्न वर्गों मे विभक्त है ।

पर यह सिक्के का एक ही पहलू है । यदि नृशास्त्रियों के कृपक वर्ग को देखने

[1] John F. Embree, *A Japanese Village: Suye Mura*, Routledge and Kegan Paul, 1946

[2] Surajit Sinha, 'Tribe-Caste and Tribe-Peasant Continua in Central India', *Man in India*, Vol. 45, No. 1, 1965, p. 62.

के नज़रिए में जनजातीय श्रेणियाँ अन्तर्निहित हैं तो वे स्वयं "जनजाति" और "कृषक वर्ग" का अन्तर प्रकटतः स्पष्ट करने के लिए असाधारण रूप से व्यग्र रहे हैं। इससे आगे यह भी कहा जा सकता है कि यदि कृषक वर्ग के नृशास्त्रीय चित्रण की कोई विशेषता है तो यही कि नृशास्त्री इन दो समाजशास्त्रीय प्रारूपों का परस्पर भेद दर्शाते हैं। इसके विपरीत अर्थशास्त्री या इतिहासकार "जनजाति" या "कृषक वर्ग" को परस्पर वर्जित श्रेणियों के रूप मे नही देखते।

यदि कोई व्यक्ति कृषक वर्ग का अध्ययन आर्थिक इतिहासकार के रूप मे करना चाहे तो उसे उनका चित्रण जनजाति के लोगों से उनका भेद दिखलाते हुए नही बल्कि एक जटिल समाज मे अन्य वर्गों एवं स्तरो से उनका अन्तर दर्शाते हुए करना होगा। ऐसा नही कि सामाजिक नृशास्त्रियों ने कृषक वर्ग और अन्य सामाजिक स्तरों के बीच संबंध की पूरी तरह उपेक्षा की है। उदाहरणतः रैडफील्ड ने जटिल समाज की संरचना मे कृषक वर्ग और भद्रलोक के अंतर का महत्व समझा है पर जिसे वह कृषक समाज कहते हैं उसकी विशेषताओ का चित्रण करते वक्त उन्होंने जनजातीय समाज से इसके भेद पर कही ज्यादा बल दिया है।[3]

स्पष्टतः जनजाति के लोगो और खेतिहरो, तथा खेतिहरो और भद्रलोक के बीच भेद दिखलाने में अंतर है। पहले उदाहरण में कुछ ऐसा है कि हम समाज के दो भिन्न प्रकारो मे भेद दर्शा रहे है और दूसरी जगह एक ही समाज के भीतर के दो स्तरो का भेद दर्शाते हैं। यह दर्शाया जा सकता है कि अनेक नृशास्त्री जनजाति और कृषक वर्ग की चर्चा यों करते हैं जैसे ये दो भिन्न समाज हो। इससे भारतीय जैसे समाजों का अध्ययन करने मे समस्याएँ पैदा होती हैं जहाँ जनजातियाँ, कृषक वर्ग और भद्रलोक एक ही समाज के तत्वों का संकलन हैं।

यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि रैडफील्ड तथा उनके सहयोगियो द्वारा अपनायी गयी योजना बुनियादी तौर से असंतोषजनक है जो भारतीय समाज को तीन क्षेत्रों—जनजातीय, कृषक वर्गीय और नागर—मे विभाजित करती है।[4] परियोजना के तीनो क्षेत्र तार्किक दृष्टि मे परस्पर भिन्न है। जाहिर है कि ऐसी वैकल्पिक योजना रखी जा सकती है जिसका विभाजन जनजाति, कृषक वर्ग और भद्रलोक हो। इस निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है कि भारत में जनजाति और कृषक वर्ग के बीच का अन्तर इन दोनो मे से किसी एक और भद्रलोक के बीच के अन्तर से कही कम है।

[3] Robert Redfield, *Peasant Society and Culture*, University of Chicago Press, 1956.

[4] This scheme was adopted at a seminar organized in Chicago by Robert Redfield, Milton Singer and Surajit Sinha under the auspices of the Ford Foundation in 1956.

निश्चय ही दो तरह के सामाजिक संगठनो का नामकरण "जनजातीय" और "कृषकवर्गीय" करना और इस आधार पर उनमें भेद दर्शाते हुए किसी एक का चित्रण संभव है। पर अब तक नृशास्त्रियो के तमाम प्रयत्नो के बावजूद जनजातीय समाज को संतोषप्रद ढग से परिभाषित करने का कोई तरीका नहीं है। भारतीय संदर्भ मे इसका कुल जमा अर्थ है कि नृशास्त्रियो ने एक अस्पष्ट धुधले समाजशास्त्रीय प्रारूप की तुलना उतने ही अस्पष्ट धुधले दूसरे समाजशास्त्रीय प्रारूप से करके उसका चित्रण करने का प्रयत्न किया है। इससे पहले नृशास्त्रियों ने जनजातीय समाज को परिभाषित करने की ओर यथेष्ट ध्यान नही दिया था। यह बात अनकहे मान ली गयी थी कि आस्ट्रेलिया, मीलेनीसिया और अफ्रीका मे जिन समाजो का अध्ययन वे कर रहे थे वे जनजातीय थे। कुछ अस्पष्ट-सी मान्यता यह थी कि जनजाति एक कमोबेश समरूप (homogeneous) समाज है जिसमें एक सरकार होती है, एक बोली और एक संस्कृति। ईवान्स-प्रिचर्ड[5] के समय से नृशास्त्री जनजाति की संरचनात्मक परिभाषा—विशेषकर खण्डीय समाजों के संदर्भ में—ढूंढने का प्रयत्न करते रहे हैं।

तथापि, जैसा आई० एम० ल्युइस ने इगित किया है, यह बताना एक बात है कि विभिन्न जनजातियों के बीच सीमारेखाएँ खीची जानी चाहिए और ऐसे जनजातीय समाजों की विशेषताओं को स्पष्ट करना बिल्कुल अलग बात है। स्वयं ल्युइस इस काम के लिए "पैमाने" की कसौटी प्रस्तावित करते हैं जिसका नृशास्त्र से परिचय कराने का श्रेय गाडफ्रे और मोनिका विल्सन[6] को है।

"आदर्श रूप में जनजातीय समाजो का पैमाना छोटा होता है। इनके सामाजिक, कानूनी और राजनीतिक संबंध भू-क्षेत्रीय और कालीय दृष्टि से सीमित होते हैं और इनके नैतिकता, धर्म और विश्वदर्शन के आयाम भी तदनुसार ही होते हैं।"[7] इस पर दो टिप्पणियाँ की जा सकती है। पहली तो यह कि अनेक प्रमुख भारतीय जनजातियाँ काफी बड़ी हैं—जैसे संथाल, गोंड, भील आदि जिनमें प्रत्येक में दस लाख से ऊपर जन हैं और इनका बिखराव विस्तृत भूभाग में है। दूसरी यह कि यदि हम जनजाति की नही "जनजातीय समाज" की चर्चा कर रहे हैं तो यह दर्शाया जा सकता है कि ससार के अनेक भागों मे ऐसे खेतिहर समाज हैं जिनका पैमाना छोटा है।

जनजातीय समाज का अपेक्षाकृत अधिक रोचक चित्रण वह है जिसे

[5] E. E. Evans-Pritchard, *The Nuer*, Clarendon Press, 1940.

[6] Godfrey and Monica Wilson, *The Analysis of Social Change*, Cambridge University Press, 1945.

[7] I. M. Lewis, 'Tribal Society' in David L. Sils (ed.), *International Encyclopedia of the Social Sciences*, The Macimillan Company and the Free Press, 1968, Vol. 16, p. 147.

साहलिन्स[8] प्रस्तुत करते हैं और जिसे दुर्खीम तथा मॉस[9] जैसे विद्वानों के लेखन में खोजा जा सकता है। साहलिन ने तर्क दिया है कि "जनजातीय समाज" शब्दावली को इन खण्डीय व्यवस्थाओं तक सीमित रखा जाना चाहिए। खण्डीय व्यवस्थाएँ न केवल पैमाने में छोटी होती हैं पर संरचना की दृष्टि से एक विशेष प्रारूप का प्रतिनिधित्व करती हैं जो उन अपेक्षाकृत अधिक जटिल सामाजिक व्यवस्थाओं से भिन्न हैं जिनमे खेतिहरों और भद्रलोक का सहअस्तित्व होता है। यदि हम जनजाति को इस अर्थ मे परिभाषित करते है तो हम पायेंगे कि संथाल, ओरांवो तथा मुंड जनजातियो के अनुरूप नही बल्कि उनके अधिक अनुरूप हैं जिनका वर्णन खेतिहरो के रूप में किया जाता है।

इस प्रकार जनजातीय समाज को परिभाषित करने का कोई मार्ग नही। परिभाषाएँ या तो बहुत व्यापक और ढीली-ढाली हो सकती हैं या बहुत सँकरी और सीमित। पहली अवस्था में वे न केवल जनजातियो पर लागू होंगी पर कई प्रकार से खेतिहरों पर भी। *और बाद की दशा में वे कई ऐसे समाजों का वर्णन* करेंगी जिन्हे पारंपरिक रूप से जनजातीय समझा जाता है। निश्चय ही यह तर्क दिया जाएगा कि खण्डीय व्यवस्था के रूप मे जनजाति की परिभाषा भारत जैसे देश मे व्यावहारिक-उपयोगी नही हो सकती जहाँ खण्डीय समाजो को आसानी से पहचाना नही जा सकता। बेली शायद भारतीय क्षेत्र मे कार्यरत अकेले नृशास्त्री हैं जिन्होंने जनजातियो का चरित्र-चित्रण खडीय सिद्धांतों के अनुसार किया है। पर जिस भेद में उनकी रुचि है वह "जनजाति" और "खेतिहर" के बीच नही बल्कि "जनजाति" और "वर्ण" के बीच है।[10]

बेली के विपरीत, अधिकांश भारतीय नृशास्त्रियों ने जनजातीय समाज को वैसे परिभाषित करने की समस्या पर गंभीरता से नही सोचा है जो भारतीय परिवेश में सगत हो। बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि वे निरंतर पाठ्य-पुस्तकों मे दी जनजाति की परिभाषाओं और भारतीय समाज मे व्याप्त जनजातीय-गैर-जनजातीय के प्रचलित वर्गीकरण के बीच झूलते रहते हैं। भले ही हम एकबारगी यह तय करने में समर्थ न हों कि "जनजातीय समाज" से हमारा अभिप्राय क्या है या भारतीय सदर्भ मे इन शब्दो का प्रयोग कैसे किया जाय तब भी भारतीय संदर्भ में इनके प्रयोग का अध्ययन उपयोगी होगा।

भारतीय समाज के कुछ विशेष समूहों को जनजातीय रूप में वर्गीकृत करने की परंपरा 19वीं सदी मे विशेषकर ब्रिटिश शासको द्वारा प्रारभ की गयी। 1930 से

[8] Marshall D. Sahlins, *Tribesmen*, Prentice-Hall, 1968.
[9] See Marcel, *Oeuvres*, Vol. III, Les Editions de Minuit, 1969, pp. 580 ff.
[10] F. G. Bailey, "Tribe" and "Caste" in India', *Contributions to Indian Sociology*, No. V, 1961, pp 7–19.

भारतीय जनजातियों की सूचियाँ तैयार की जाने लगीं ताकि उन्हें राजनीतिक और प्रशासनिक रियायतें दी जा सकें। भारत के संविधान के साथ संलग्न अनुसूचित जातियों की सूची का मूल यही है। इस बात पर आवश्यकता से अधिक जोर नहीं दिया जा सकता कि यह सूची प्रशासनिक परिस्थितियों की जरूरतों को अधिक प्रतिबिंबित करती है, तार्किक अनुशासन या शास्त्रीय जरूरतों को उतना नहीं। परिणामस्वरूप एक ही समूह को एक राज्य में जनजातीय माना जा सकता है पर दूसरे राज्य में नहीं। यह आश्चर्य की बात नहीं कि सरकार के पास व्यावहारिक सार्वजनिक नीति के हित में ऐसी सूची है। आश्चर्य की बात तो यह है कि स्वतंत्रता के बाद नृशास्त्रियों ने इस सूची को उसकी तर्कसंगति की परीक्षा या समीक्षा किये बिना ही कमोबेश स्वीकार कर लिया है।

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन की एक उल्लेखनीय विशेषता थी—हर दस वर्षों के बाद जनगणना कराना। इसमें न केवल जनगणना बल्कि जनसंख्या का विभिन्न वर्गों में वर्गीकरण भी शामिल था। उत्तरोत्तर जनगणना अभियानों की परिणति जनसंख्या को जनजाति, वर्ण, संप्रदाय और व्यवसाय के आधार पर विभाजित करने वाली एक जटिल व्यवस्था में हो गयी। जनगणना अभियान के आरंभिक दौर के अनेक अधिकारी मानवजाति-विज्ञान में गहरी रुचि रखने वाले व्यक्ति थे और निश्चय ही इसका योगदान उनके बनाए वर्गीकरण के उपकरणों को जटिल बनाने में रहा।[11]

चूँकि जनजातियों की हमारी वर्तमान सूची इन जनगणना अधिकारियों के कृतित्व से ही उपजी है अतः यह कहना उचित ही होगा कि उनका कोई खास सरोकार "जनजाति" और "खेतिहर" के अंतर से न था। पहले-पहल उन्होंने "जनजाति" शब्द का प्रयोग जरा ढीले-ढाले ढंग से किया, अक्सर इसका प्रयोग जाटों और अहीरों जैसे समूहों का वर्णन करने के लिए किया जाता था। पर जे० एच० हटन की देखरेख में होने वाली 1931 की जनगणना तक "जनजाति" और "वर्ण" अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण मुद्दे बन चुके थे। जनजातियाँ उत्तरोत्तर पर्यावरणीय नहीं धार्मिक संदर्भ में देखी जाने लगी थीं। यदि किसी समूह के धार्मिक विश्वासों और आचरण को स्पष्टतः "हिन्दू" दर्शाया जा सकता था तो वह "वर्ण" था; यदि यह समूह पशुपूजक (Animist) था तो उसके साथ जनजाति वाला व्यवहार किया जाना था।

यह तर्क देना त्रुटिपूर्ण है कि "पशुपूजक" खेतिहर नहीं हो सकते क्योंकि ऐसा करने पर "खेतिहर" शब्द को एक विशेष अर्थ मिल जाएगा। अतः इस समय हमें

[11] R. Saumerez Smith, *Caste, Religion and Locality in the Punjab Census*, M.Litt. dissertation submitted to the University of Delhi, 1971.

उस ढाँचे (योजना-स्कीम) को अलग रखना चाहिए जिसके अनुसार भारतीय समाज को जनजातीय, खेतिहर या शहरी के रूप में विभाजित किया जाता है और यह परखना चाहिए कि किस सीमा तक और किन अर्थों में हमारे आदिम जन भी खेतिहर समझे जा सकते हैं।

यदि हम सरकारी वर्गीकरण को मानकर चलें तो भारत में जनजातीय जनसंख्या संभवतः विश्व के किसी भी अन्य देश से अधिक है। इस बड़ी जनसंख्या, अर्थात् 1971 में तीन करोड़ से अधिक, के अलावा इसकी प्रमुखतम विशेषता है इसकी *विविधता। आदिम जन देश के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं भले ही इनका* विशेष जमघट कुछ विशेष क्षेत्रों में ही है। इस वितरण की एक उल्लेखनीय विशेषता जो प्राचीन प्रारूप का प्रतिनिधित्व करती है, यह है कि किसी भी क्षेत्र के आदिम जन किसी और क्षेत्र के आदिम जनों की तुलना में कम से कम बाहरी तौर पर उसी क्षेत्र के अ-जनजातीय लोगों के कहीं अधिक समरूप दीखते हैं।

भारत की 427 जनजातियों का संतोषप्रद वर्गीकरण करने का कोई एक तरीका नहीं। मेरा सुझाव यहाँ एन० के० बोस द्वारा अपनाए गए वर्गीकरण का अनुसरण करने का है। "कई ऐसे तरीके हैं जिनके अनुसार जनजातियों का वर्गीकरण किया जा सकता है।

जैसा हम कह चुके हैं, इनमें से एक भाषा द्वारा है, दूसरा धर्म द्वारा है, तीसरा अलगाव की उस मात्रा द्वारा है जिसके अन्तर्गत वे रह रहे हैं और जिससे, अन्य जनों की तुलना में, वे अपनी मूलभूत संस्कृति को अपेक्षाकृत अधिक अंशों में सुरक्षित बनाये रख सके हैं। परन्तु हमारी धारणा है कि उन्हें उनकी आजीविका अर्जित करने के प्रमुख ढंग के आधार पर श्रेणियों में वर्गीकृत करना सुगमतम ढंग होगा।"[12] एक ऐसे वाद-विवाद के लिए, जिसका उद्देश्य यह जानना है कि जनजातियाँ कृषक हैं या नहीं, यही स्पष्टतः सबसे संतोषजनक प्रक्रिया है। बोस जनजाति के लोगों को तीन प्रमुख वर्गों में विभाजित करते है—(1) अहेरी, मछुआरे और खाद्य बटोरने वाले, (2) खेती के स्थान बदलने वाले किसान, और (3) स्थायी किसान, जो हल तथा हल के जानवरों का इस्तेमाल करते हैं। उन्होंने दो अन्य वर्ग गिनाए हैं, यथा खानाबदोश पशुपालक, कारीगर व मजदूर, और उद्योगों तथा बागानों में काम करने वाले। इन जनजातियों में हल और हल के जानवरों का प्रयोग करने वाले स्थायी किसान ही प्रचण्ड बहुमत में हैं। बागानों और उद्योग-धन्धों के मजदूर भी इन्हीं श्रेणियों के लोगों में से भर्ती किये जाते हैं।

अपेक्षाकृत बृहत् जनजतियाँ, जिनमें प्रत्येक की जनसंख्या दस लाख से अधिक

[12] N. K. Bose, *Tribal Life in India*, New Delhi, 1971, pp. 4-5.

है—संथाल, गोंड, भील, ओरांव और मुंडा—सभी स्थायी कृषक हैं और पुश्तों से रहते आए हैं। आज इनके सदस्यों को "कृषक, कृषि श्रमिक और अन्य प्राथमिक प्रकार के धन्धों में लगे कामगारों के रूप में वर्गीकृत किया जाता है।"[13] बोस ने इनके गाँवों में एक सहज और निश्चित श्रम-विभाजन की विद्यमानता को उद्घाटित किया है। इस प्रकार, इन जनजातीय गाँवों में, कृषकों के अतिरिक्त टोकरी बनाने वाले, तेल पेरने वाले और लोहार का काम करने वाले उन परिवारों को भी पाया जाता है, जो भूमि तथा अन्न की अर्थ-व्यवस्था के लिए आवश्यक उपकरण हैं।

क्षेत्र कार्यकर्ता के रूप में भारतीय जनजातीय लोगों से मेरा पहला साक्षात्कार राँची जिले में हुआ, जहाँ 1956–57 में मैंने ओरांव लोगों के ग्राम में पर्यवेक्षण किया था। इनके उपरांत भारतीय सांख्यिकी संस्थान के तत्वावधान में किये गये सर्वेक्षण के दौरान हजारीबाग जिले में स्थित संथाल ग्रामों का पर्यवेक्षण करने का सुयोग मुझे मिला। हालांकि ये संपर्क छोटे थे, और मैंने राँची जिले में एक ओरांव ग्राम में भौतिक संस्कृति, सामाजिक संगठन और धर्म का अध्ययन करते हुए मात्र एक महीना बिताया था, तब भी मैं इस दृढ़ प्रभाव को लेकर लौटा था कि इन गाँवों के निवासी, "कृषक" के सामान्य अर्थ के बहुत निकट आते हैं। मुझे अपनी वह प्रारम्भिक निराशा आज भी याद है, जो मुझे यह जानने पर हुई थी कि यद्यपि हम वास्तविक जनजातियों का अनुसन्धान करने आये थे, फिर भी जिन लोगों से हमारा सामना हुआ था, वे पश्चिम बंगाल और बिहार के ग्रामीण अंचलों में सर्वत्र दृष्टिगोचर गरीब ब्राह्मणों से बाह्य रूप से अलग नहीं थे। राँची जिले के उस गाँव के ओरांव निवासी, जहाँ मैंने पर्यवेक्षण किया था, पिछले अध्याय में वर्णित शानीन (Shanin) की कृषिकीय संकल्पना से पूर्णतः मेल खाते हैं।[14] यह लगता है कि वे इस संकल्पना से, तंजौर जिले के उन ग्रामीणों की तुलना में कहीं अधिक मेल खाते हैं जिनका अनुसंधान मैंने पाँच वर्ष उपरांत किया था। शानीन (Shanin) की संकल्पना के मुख्य सूत्रों को समझ लेना और सामान्य रूप से यह देखना लाभदायक होगा कि छोटा नागपुर के ओरांव, मुंडा, हो और संथाल ग्रामों के निवासियों पर वे सूत्र लागू होते हैं अथवा नहीं।

कृषक वर्ग की प्रथम विशिष्टता, पारिवारिक खेती की प्रमुख महत्ता है। यद्यपि छोटा नागपुर की कृषिकीय जनजातियों में "कुल", "दल" तथा वंशावली महत्वपूर्ण

[13] Ibid., p. 23.

[14] Teodor Shanin (ed.), *Peasants and Peasant Societies*, Penguin, 1971, Introduction.

संरचनात्मक इकाइयाँ हैं तथा रही हैं, यह वास्तव मे परिवार ही है जो उत्पादन और उपभोग की प्रमुख इकाई है । व्यक्तिगत परिवार उस भूमि पर उत्पादन की इकाइयो के रूप मे काम करते हैं, जिस पर या तो उनका (खेतिहर के रूप मे) स्वामित्व है, अथवा जो दूसरो की (कृषि श्रमिकों या बटाई पर कृषि वालो के रूप मे) अधिकृत अथवा नियन्त्रित भूमि है । प्रत्येक अवस्था में, स्त्री-पुरुष दोनों मिल कर खेती का काम करते है, जो उच्चस्तरीय हिन्दू और मुस्लिम परिवारों में, जिनमे तथाकथित कृपक जातियाँ भी सम्मिलित हैं, प्रचलित प्रथाओ के सर्वथा विपरीत है ।

दूसरी विशेपता यह है कि ये परिवार न केवल स्थिर-कृषि-कार्य में संलग्न रहते हैं, वरन् भूमि में कृषि-कार्य इनके लिए आजीविका का प्रमुख साधन है तथा उनकी आवश्यकताओ के बड़े हिस्से की पूर्ति भी करता है । प्राय: इन सभी जन-जातियो के (निजी) मिथक हैं, जो उनके पूर्ववर्ती जीवन का वर्णन करते हैं, जब वे आखेट से और खाद्य बटोरने से आजीविका अर्जित करते थे और जो इन गतिविधियो को उनकी सस्कृति मे एक प्रतीकात्मक स्वीकृति देते हैं । परन्तु इन मिथको को ऐतिहासिक शब्दो मे रूपान्तरित करना दुष्कर कार्य है, और स्पष्टत: ये जनजातियाँ स्थिर कृपिकार्य द्वारा कम-से-कम पाँच पुश्तों या उससे भी अधिक काल से अपनी आजीविका अर्जित कर रही है । इससे भी महत्त्वपूर्ण यह है कि इनका कृपिकार्य मूलतः और मुख्यत: एक भरण-पोषण का कृपिकार्य रहा है, यद्यपि यह मानना जल्दबाजी से पूर्ण होगा कि उनका बाजारो में कोई भी संबंध नही रहा है ।

शानीन (Shanin) द्वारा दी गयी कृषि वर्ग की विशिष्टताओ का तीसरा सूत्र उनकी "लघु जातियों" से सबधित विशिष्ट पारम्परिक संस्कृति के विपय मे है ।[15] जो विशेष बातें शानीन के मस्तिष्क मे हैं वे हैं पुरातन अभ्यासों और परम्पराओ की मान्यता और व्यक्ति की समुदाय के सम्मुख गौणता और प्रमुखता । जैसा कि वे ठीक ही कहते हैं, ये विशिष्टताएँ लघु और स्थायी-स्थानीय समुदायो मे जिये जाने वाले जीवन का परिणाम है । एक बार फिर, यदि हम इन विशिष्टताओ को ग्रामीण भारत मे देखना चाहेंगे, तो आरभ करने के लिए सन्थाल, ओराँव अथवा मुंडा ग्राम अच्छे स्थल रहेंगे ।

अन्त मे हम शानीन (Shanin) के शब्दो मे कृपक वर्ग की "अप्रमुख स्थिति" पर आते है अथवा उन पर बाहरी लोगो के प्रमुत्व पर आते हैं । सभी स्तरित समाजों मे, मानो परिभाषा के अनुसार ही, कृपक गण एक गौण स्थान ही पाते हैं, परन्तु उनके शोपण की सीमा एक समाज से दूसरे समाज तक और एक ही

[15] Ibid., p. 15.

समाज मे एक स्थल से दूसरे स्थल तक बहुत बड़ी मात्रा में बदलती रहती है। मैंने यह तर्क दिया है कि यह जरूरी नही है कि कृषको का शोषण बाहरी लोगों द्वारा ही होता हो, उच्च स्तरित भारतीय ग्रामो मे उनके शोषक ग्राम के ही अन्य स्तरीय जन होते हैं। परन्तु, यदि भारत मे एक शती से भी अधिक काल तक "बाहरी लोगों" द्वारा शोषित कोई कृषक वर्ग हैं तो वे छोटा नागपुर के ओरांव, मुंडा और सन्थाल तथा समस्त भारत के जनजातीय कृषक-गण है।

इन खेतो मे श्रम करने वाले कृषकगणो के शोषक—ऋणदाता, लगान वसूल करने वाले किसान, जमीन के मालिक—क्यो मुख्यत' बाहरी लोग हैं—इसका प्रमुख महत्वपूर्ण कारण यह है कि सन्थाल, ओरांव, हो और मुण्डा ग्राम तुलनात्मक रूप मे गैर-स्तरित और सजातीय हैं। तब सर्वोपरि इसी अर्थ मे, इन ग्रामों को कृषको के वास्तविक समाज के रूप मे देखना होगा। बेशक, इन ग्रामों मे आर्थिक विषमता है, परन्तु वह उन विषमताओ से सर्वथा भिन्न है, जो उन गाँवो मे पायी जाती है जहाँ ब्राह्मण या राजपूत या मुसलमान भू-स्वामी रहते हैं।

छोटा नागपुर की अपेक्षाकृत बड़ी जनजातियो की कृषक अर्थ-व्यवस्था की व्याख्या एव प्रभाव, तथ्यों के विस्तृत तथा सुनियोजित परीक्षण से ही सभव है। यह विशेषतः तब आवश्यक हो जाता है, जब हम जनजातियो के विषय मे ऐसे सामान्य वक्तव्य देने से बचना चाहते हैं, जो कि पिछले अध्याय में कहे गये कृषकों के बारे मे दिये गये वक्तव्यों के समान खोखला तथा विशाल होकर रह जाता है। भारत मे अनेकानेक जनजातियाँ हैं जो कि, जैसा हमने पहले ही देख लिया है, एक दूसरे से काफी भिन्न हैं, और इनमे कुछेक तो किसानो के सदृश ही है और अधिक कुछ नही है। ज्यादा महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि एक ही जनजाति यथा "भील" या "गोंड" कभी-कभी अनेक शाखाओ का योग है जिनमे कुछ तो स्पष्टतः किसान हैं और अन्य समान रूप से गैर-कृषक हैं।

दुर्भाग्यवश, आजकल, जनजातीय समुदायों का उनके परम्परागत संदर्भों में वैसा विस्तृत अध्ययन नही होता, जैसा कि पूर्वकाल में होता था। आजकल पिछले दो दशको से "जनजातीय विनिबन्ध" का स्थान "ग्रामीण अध्ययन" को देने की प्रवृत्ति चल पड़ी है। भारतीय मानव-विज्ञानियो मे इस परिवर्तन की महत्वपूर्ण बात यह है कि "ग्रामीण अध्ययनो" को "जनजातीय अध्ययनों" से पृथक् या विकल्प के रूप में देखा जाता है, जबकि यथार्थतः जनजातीय ग्रामों का अध्ययन ठीक गैर-जनजातीय ग्रामों के अध्ययन की भाँति ही किया जा सकता है। इसमे कोई सदेह नही है कि "ग्रामीण अध्ययनो" और "जनजातीय अध्ययनों" के मध्य वैपम्य दिखलाना, "जनजाति" और "कृषक" के मध्य उस "गलत"

विरोध का सीधा परिणाम है, जिसे पचास के मध्य दशक मे भारतीय मानव-विज्ञान पर लादा गया था।

मानव-विज्ञानियो के जनजातीय समुदायो के अध्ययन में रुचि के ह्रास का संतोषजनक उत्तर खोजना कठिन है। पिछले दो दशको मे, भारतीय जनजातियों पर मुश्किल से दो दर्जन प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं—और ये सब भी, जनजातियों के "स्वाभाविक" परिवेश मे किये हुए अध्ययन नही हैं। यह समझ में आने वाली बात है कि भारतीय मानव-विज्ञानी कृषको के अध्ययन में इतना अधिक ध्यान दें। परन्तु, इसका तो कोई कारण नही दीखता कि ऐसा जनजातीय अध्ययन की कीमत पर किया जाय, विशेषत: जब कि भारत की अनेक जनजातियाँ वास्तव मे कृषको के समुदाय है।

खेती करने वाली जनजातियो के सामाजिक और आर्थिक जीवन के हाल ही मे किये गये अध्ययन के अभाव मे हमे पूर्ववर्ती विद्वानो—एस० सी० राय से सी० वान फ्यूरर-हैमनडोर्फ (Von Fürer-Haimendorf) तक—के प्रकाशित प्रबन्धो की सहायता लेनी पड़ती है। दुर्भाग्य से ये प्रबन्ध, मानव-विज्ञानियो द्वारा गहन ग्रामीण अध्ययनो की कुल योजना अपनाये जाने के पूर्व लिखे गये थे। इनमे से अधिकाश प्रबन्ध, विभिन्न जनजातियो की भौतिक विशिष्टताओं, सामाजिक संस्थानो और धार्मिक प्रथाओं के सामान्यीकृत विवरण को प्रस्तुत करते हैं। इनमे से ही कुछ प्रबन्ध हमे स्थानीय समुदाय के स्तर की वह विस्तृत जानकारी देते हैं, जो कि हमे *अपने ग्रामीण क्षेत्रो की गैर-जनजातियो के विषय मे उपलब्ध है।* इन पूर्ववर्ती प्रबन्धो की एक मजेदार बात यह है कि ये "जनजाति" और "कृषक" वर्गों को पारस्परिक विशुद्ध वर्ग के रूप में नही देखते। एस० सी० राय खुले रूप से ओरॉव और मुण्डा ग्रामीणो को कृषक कहते है और फ्यूरर-हैमनडोर्फ, आदिलाबाद के राज गोंडों का वर्णन "कृषक सस्कृति" कहकर करते हैं। हाल ही मे बेली (Bailey) ने ओड़िसा के कोडो को कृषक बतलाया है।

साठ वर्ष पूर्व प्रकाशित एस० सी० राय का ओरॉव विषयक वर्णन, भौतिक संस्कृति और सामाजिक संगठन दोनों की दृष्टि से, मूल्यवान सामग्री प्रस्तुत करता है। यद्यपि हमे किसी ग्राम विशेष का विस्तृत वर्णन नही मिलता है, फिर भी ग्रामीण संगठन की, जिसमें आर्थिक जीवन का सगठन भी शामिल है, पर्याप्त जानकारी हमे प्राप्त हो जाती है। ओरॉवों की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मूलत: भूमि और अन्न की ही अर्थव्यवस्था है, भले ही ओरॉव और गैर-ओरॉव दोनो ग्रामवासियो में गौण रूप से भूमि के स्वामित्व की प्रथा है। ओरॉव लोगो द्वारा उपजाई जाने वाली प्रमुख उपज धान है, यद्यपि मोटे अन्न के दो प्रकार—*गोंदली* और *मंडुवा*—भी उपजाये जाते हैं और ये गरीब ओरॉव लोगो के भोजन का प्रमुख भाग हैं। धान की खेती तकनीकी रूप से काफी जटिल प्रक्रिया है। राय हमे उन सभी

विभिन्न प्रक्रियाओ—खाद देना, हल जोतना, नियमित जल सीचना, बीज बोना, रोपाई, खेत से झाड़ की सफाई, फसल की कटाई[16]—का विस्तृत विवरण देते हैं जो पश्चिम बंगाल और बिहार के मैदानी भागो मे गैर-जनजातीय कृपको द्वारा अपनाई गई प्रक्रियाओं से सूक्ष्म सूत्रो मे भी समान हैं । राय महोदय ओरांव कृपि-कार्य मे स्त्री और पुरुपो के मध्य श्रम-विभाजन का भी विवरण देते हैं । स्त्रियाँ रोपाई तथा झाड़-झंखाड़ की सफाई करती हैं और पुरुप पानी देने, हल चलाने, भूमि को समान करने और बीज बोने का काम करते हैं, जबकि फसल की कटाई का काम स्त्री और पुरुप दोनो करते हैं।[17] यहाँ पर फिर ओरांवों के खेती के कार्य और गैर-ओरांव कृपको के खेती के कार्य मे विशद समानता है ।

राय ने ओरांव ग्राम की सरचना का जो वर्णन किया है वह विस्तार से उद्धृत करने योग्य है । एक "ठेठ और विशुद्ध ओरांव ग्राम मे इस प्रकार 'भुंईंहर', पीछे आने वाले ओरांव बाशिन्दे (जिन्हे उनके बसने के काल के अनुसार जेठ रैयत या सामान्य रैयत कहा जाता है), एक गोरेट परिवार, एक या दो अहीर परिवार, एक लोहार परिवार और कभी-कभी एक या दो कुम्हार परिवार रहते हैं । अनेक ग्रामों में हमारी भेंट घासियों के कतिपय परिवारों, जुलाहो, कभी-कभी चिक बुनकरो और मुहेलिसो (टोकरी बनाने वालों), और कुछ अन्य जातियों और जनजातियों से भी हो जाती है ।"[18] इस विवरण मे दो सूत्र हैं, जिन पर विशेप रूप से ध्यान देना चाहिए : (1) ओरांवों का उनकी कार्यकाली स्थिति के अनुसार पृथकीकरण, और (2) दस्तकारो मे हिन्दू और मुसलमान दोनो की उपस्थिति ।

राय के अनुसार, ओरांव ग्राम का प्रमुख अंश या भाग भुंईंहरो द्वारा जिन्हें वे "कृपक स्वामी" की सज्ञा देते हैं, आबाद है ।[19] उनकी यह धारणा है कि कभी अतीत मे एक ऐसी स्थिति थी, जब ये कृपक स्वामी पूर्णत: स्वतन्त्र थे और इनके ऊपर न तो भू-स्वामी थे और न ही इन्हे लगान या कर देने होते थे ।[20] हमारे पास ऐसी ठोस तथा अच्छी ऐतिहासिक सामग्री नही है, जिससे हम यह कह सकें कि कभी ऐसी स्थिति वास्तव में थी या नही । परन्तु, बीसवी शती के प्रारम्भ में, जब राय महोदय ओरांव लोगो के विपय मे अनुसंधान कर रहे थे, तब इनके बीच अनेक रैयतों के वर्ग थे, और यह शब्द काश्तकार अथवा किसानो के लिए सारे भारत मे प्रयोग किया जाता था । इस तथ्य की, कि इस शती के प्रारम्भ मे, ओरांव ग्राम मात्र एक सहज जनजातीय समुदाय ही नही था, पुष्टि उस ग्राम में विभिन्न सजातीय समूहो की उपस्थिति से हो जाती है । इनके परिचय को स्थापित करना सदा सहज नही होता, और यह पूछना समीचीन नही है कि ऐसे समूह,

[16] Sarat Chandra Roy, *The Oraons of Chota Nagpur*, Ranchi, 1915, pp. 123–8.
[17] Ibid., p. 131.
[18] Ibid., p. 109.
[19] Ibid., pp. 110–11.
[20] Ibid.

यथा मोहाली, घासी और लोहार, हिन्दू बनी हुई जनजातियाँ हैं अथवा ऐसे हिन्दू जो कालान्तर में जनजातियों में परिवर्तित हो गये । एक दृष्टिकोण के अनुसार इनकी उपस्थिति ने केवल उतनी विषमांगता और स्तर-विन्यास को उत्पन्न करने में योगदान दिया था, जो समस्त विश्व में कृषक समुदायों की अपनी विशेष विशिष्टता है।

छोटा नागपुर के मुंडा लोगों के विषय में यह आम धारणा है कि वे ओराँव की तुलना में उस क्षेत्र के अधिक पुराने निवासी हैं, और कृषि कार्य की दृष्टि से उनकी अपेक्षा कुछ अधिक पिछड़े हुए । फिर भी, उनकी अपनी आर्थिक व्यवस्था है और एक ग्रामीण संगठन भी, जो मूलभूत रूप से ओराँवों के संगठनों के सदृश है । वे स्थायी कृषक या काश्तकार हैं, जिनमें परिवार के भीतर विशिष्ट कृषक श्रम-विभाजन है—और वे गाँवों में उन कारीगरों और दस्तकारों के साथ रहते हैं, जो कि उनकी गैर-कृषि-सम्बंधी जरूरतों को पूरा करते हैं ।

मुण्डा जनजातियों में प्रचलित "खुन्टकट्टी" सेवा अवधि के इर्द-गिर्द बहुत अभिरुचि जागृत हुई है—और इस शती के प्रारम्भ में पाये गये "खुन्टकट्टी" गाँव का वर्णन लाभप्रद सिद्ध होगा। *इनसाइक्लोपीडिया मुन्डारिका* (*Encyoclopaedia Mundarica*) में प्रकाशित एक विशेष लेख में हौफमैन तथा लिस्टर लिखते हैं : विशुद्ध और ठेठ मुन्डारी खुन्टकट्टी गाँव के तीन मूल तत्व होते हैं जो हैं (1) *खुन्टकट्टीदार*, (2) *प्रजा अथवा रैयत*, और (3) *सहायक जातियाँ । खुन्टकट्टीदार* गाँव के मूल संस्थापकों के पुरुष उत्तराधिकारी हैं . . . प्रजा अथवा रैयत निरपवाद रूप में मुन्डारी हैं, और प्रायः और खुन्टकट्टीदारों के स्त्री पक्ष के रिश्तेदार है । सहायक जातियाँ (पिनरें, माहिल या खगार, भोगता और वारें) उन गैर-कृषि कार्यों को करती हैं जो कि गाँव के जीवन के लिए आवश्यक है, और जमीन को कभी-कभार ही जोतते हैं ।[21] *उक्त लेख के लेखक फिर यह भी लिखते हैं कि ठेठ* खुन्टकुट्टी गाँव अब बहुत कम मिलते हैं और उसका वर्णन करते हैं जिसे वे "भंग खुन्टकट्टी गाँव" की संज्ञा देते हैं । "खुन्टकट्टी" ग्रामों के ह्रास के साथ दो कारण जुड़े हैं : (1) स्थानीय जाति समूह के स्वामित्व के स्थान पर व्यक्तिगत भूमि स्वामित्व का उभर कर सामने आना, और (2) मुण्डा आबादी में ऋणदाताओं और भू-स्वामियों की अनधिकार रूप से घुसपैठ । हमें यह ज्ञात नहीं है कि परिवार-विशेषों के भू-स्वामित्व पर ग्राम-जाति-समूह का अधिकार कितना प्रभावपूर्ण था, और कब और कैसे यह प्रभाव ठीक पड़ने लगा । यह उक्ति सच नहीं है

[21] J. Hoffmann and E. Lister, 'Special Memorandum on the Land System of the Munda Country' in J. Hoffmann (in collaboration with A. Van Emelen), *Encyclopaedia Mundarica*, Vol. VIII, Patna, 1950, p. 2389.

कि ब्रिटिश शासन के पूर्व (इस क्षेत्र मे) ऋणदाता महाजन और ज़मीन के मालिक एकदम ही अपरिचित थे।

फ्यूरर-हैमनडौर्फ (Furer-Haimendorf) द्वारा आदिलाबाद के राज गोडों का अध्ययन अपेक्षाकृत हाल के समय का है। यद्यपि यह छोटा नागपुर से भिन्न क्षेत्र है फिर भी जनसख्या मे वे ही तीन मूल तत्व हैं : (1) "तथाकथित 'आदिवासी' " जो विभिन्न सजातीय समूहो मे विभाजित हैं और प्रमुखत: खेती पर निर्भर हैं— (2) "भाटों, गीतकारों और दस्तकारों की सहचारी जातियाँ" और (3) तेलुगु और मराठी मूल की जातियाँ तथा मुसलमान, जो विशुद्ध रूप से बाहर से आये हुए हैं।[22] जब कि इन *तीन वर्गों* मे पर्यावरणीय पार्थक्य है, फिर भी उन गाँवो में, जहाँ राज गोंड बसते हैं, दूसरे वर्ग की जातियाँ भी रहती हैं। फ्यूरर-हैमनडौर्फ (Furer-Haimendorf) सतर्कतापूर्वक लिखते है कि आदिलाबाद ग्राम में राज गोंड लोग सत्ताशील वर्ग या आर्थिक स्थिति मे विशेषाधिकार युक्त नही हैं, परन्तु ऐसे समुदाय को बनाते हैं, जिसमे समाज के सामन्तवादी मुखिया से लेकर गरीब से गरीब मजदूर के स्तर के लोग हैं।"[23] राज गोडो को अपनी सस्कृति पर अभिमान है, जिसे वे विभिन्न तरीको से सुरक्षित बनाये रखना चाहते हैं। परन्तु इस प्रकार की समन्वयात्मक एकता—इसे यदि हम चाहे तो जनजातीय एकता भी कह सकते हैं—उस विशेषक एकता को नही नकारती जिसमे राज गोड इस क्षेत्र के अन्य समुदायो के कृषको के साथ भागीदार बनते हैं।

हमे राज गोंडों मे प्रचलित उन विभिन्न प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाओ की जानकारी है, जो सामाजिक और तकनीकी संगठनो मे विद्यमान हैं। खेती की जोत को स्थानान्तरित करना इस क्षेत्र में पूर्व काल मे होता था और चालीस के दशकों में प्रचलित था। परन्तु मोटे अन्न के साथ-साथ, राज गोंड गेहूँ और कपास की भी खेती करते थे। ये जनजातीय लोग मात्र कृषक नही है, अपितु ऐसे कृषक है जो बाजार की अर्थव्यवस्था से अधिकाधिक परिचित होते जा रहे हैं।

अपने तर्क की पुष्टि मे मैं यह कहना चाहूँगा कि जब कि यह सच है कि जनजातियों की एक बड़ी संख्या आज कृषक है, परन्तु इसका प्रमुख कारण यह है कि आज हम जनजातियो को उनके विशुद्ध रूप में नही पाते है, अपितु जनजातियो को सांक्रांतिक स्थिति ही मे देखते हैं। भारतीय जनजातियो के सक्रमण की स्थिति मे होने की धारणा को योजनाबद्ध परीक्षण के लिए प्रोफेसर डी० एन० मजूमदार ने प्राय: चालीस वर्ष पूर्व उठाया था।[24] तब से अनेक मानव-विज्ञानियों के लिए

[22] C. Von Furer-Haimendorf (in collaboration with E. von Furer-Haimendorf), *The Raj Gonds of Adilabad, A Peasant Culture of the Deccan*, Book I, MacMillan and Co., 1941, p. 31.

[23] Ibid., p. 5.

भारतीय जनजातीय स्थितियों के विषय मे लिखने का यह अच्छा माल-मसाला सा बन गया है। इस बारे में कोई शंका नहीं है कि पिछले एक सौ वर्षों के दौरान भारतीय जनजातियों में बड़े और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। उनका 'अलगाव' या तो भंग हो चुका है, या कम हो गया है। अनेक क्षेत्रों में सचल काश्तकार स्थायी किसान बन गये हैं और हल तथा हल के जानवरों का प्रयोग करते हैं। तकनीकी में परिवर्तनों के साथ-साथ इन जनजातियों के उत्पादन के संगठनो मे भी तदनुरूप परिवर्तन हुए हैं। भूमि अधिकरण के ढंग बदल गये हैं। समष्टि के लिए अब वंशावली भूतकाल की तुलना मे कम महत्वपूर्ण रह गई है, और बाजार की अर्थव्यवस्था न केवल जनजातियों के बाहरी दुनिया से संबंधो को बदल रही है, वरन् समस्त गाँव के आर्थिक और सामाजिक स्वरूप को भी परिवर्तित कर रही है।

दुर्भाग्य से समाजशास्त्र मे, "संक्रमण" शब्द की धारणा दुर्ग्राह्य-सी है, और इसका प्रयोग तर्क की पुष्टि करने के लिए भी उतना ही किया जाता है जितना कि उसे टालने के लिए। जितना अधिक हम ओरांव, मुण्डा और सन्थाल जैसी जनजातियों के सामाजिक संगठनों का सूक्ष्म अवलोकन करते है, उतनी ही अधिक हमे यह जानकारी मिलने की संभावना है कि ये जनजातियाँ सक्रमण की स्थिति में शतियों से है—न कि दशकों से। इन जनजातियो के विषय मे विश्वसनीय ऐतिहासिक सामग्री अतीत मे दीर्घकाल तक नहीं जाती—और किसी भी तरह, जिन स्थितियों मे उनके इतिहास को अंकित किया गया है, वे उनके जीवन के संक्रमण और परिवर्तन से संबंधित हैं।

एन० के० बोस मुण्डा के विषय मे लिखते हैं—"यह असंभव नही है कि भूतकाल में 'कोल' और 'मुण्डा' जनजातियाँ किसी प्रकार की *काटो तथा जलाओ* कृषि का प्रयोग करती थी। आज भी जनजातियों मे, वनो को जलाने की प्रक्रिया द्वारा आहिस्ता-आहिस्ता साफ करने की अस्पष्ट स्मृतियाँ पायी जा सकती हैं।[25] फिर भी, बोस यह बताना नही भूलते कि "मुण्डाओं के विषय मे प्राप्य पहली सामग्री द्वारा यह ज्ञात होता है कि ये (जनजातियाँ) स्थायी गाँवों में बसी जातियाँ थीं और ऊँची भूमि पर खेती का काम करती थी।"[26] यह ऐतिहासिक सामग्री अठारहवी शताब्दी के अन्त तक का वर्णन प्रस्तुत करती है। बोस ने दिखलाया है कि किस प्रकार, परम्परागत "खुन्टकट्टी" गाँव मुस्लिम शासनकाल के दौरान विघटित होने लग गये थे। यदि ये मुण्डा कभी एस० सी० राय के शब्दो में कृषक-स्वामी थे तो सत्रहवी शती में ही, राज्य की सरचना के प्रादुर्भाव के साथ,

[24] D. N. Majumdar, *A Tribe in Transition, A Study in Culture Pattern*, Longmans, 1937.

इसलिए, यदि हम भारतीय सदर्भ मे "जनजाति" और "किसान" के बीच की विषमता को भ्रमोत्पादक कहकर उडा भी देते हैं तो भी हमारे सम्मुख "जनजाति" और "जाति" या "वर्ण" के मध्य की विषमता की समस्या बनी रहती है। इस प्रश्न को लेकर मानव-विज्ञानियो मे आपस में बड़ा विवाद और मतभेद हुआ है। घुर्ये (Ghurye) का यह मत रहा है कि जनजाति के लोग "पिछड़े वर्ग के हिन्दू" है जिनका हिन्दू समाज के अन्य खण्डो से मात्र आंशिक अन्तर है।[28] इसके ठीक विपरीत, एलविन (Elwin) ने ज़ोरदार और प्रवाहपूर्ण ढंग से जनजातीय लोगो की पृथक् सामाजिक और सास्कृतिक पहचान को स्वीकृति और मान्यता देने के पक्ष में वकालत की है।[29] यह ज्ञातव्य है कि भारत सरकार, सविधान मे परिगणित जनजातियों की सूची को जीवित रखकर, इस पृथक् पहचान को मौन स्वीकृति और मान्यता देती है।

जनजातियों और वर्णों मे कतिपय सामान्यत: देखे जाने वाले अतर हैं, जिन पर सक्षेप मे विचार किया जा सकता है। प्रथम तो वर्णों की तुलना में जनजातियो का सापेक्ष पार्थक्य है। इसके दो पक्ष है। प्रथम तो, इसके यह अर्थ हुए कि सामान्यत· अगम्य क्षेत्रों और स्थानो मे केन्द्रीभूत होने के कारण, जनजातियाँ भौगोलिक रूप से पृथक् है। इसके यह अर्थ भी निकलते हैं (और ये समाजशास्त्रियो के लिए अधिक महत्वपूर्ण हैं) कि जनजाति, अति अल्प बाह्य संपर्कों के कारण, अपने ही तक सीमित संसार मे रहती है, जबकि वर्ण (जाति) स्वभाव से अन्य वर्णों या जातियो से नानाविध सवंधों से संपृक्त होने के कारण एक अपेक्षाकृत बड़े समाज का अंग हैं।

द्वितीय कसौटी भाषा या बोली (उपभाषा) की है। जनजातियाँ विभिन्न प्रकार की ऐसी उपभाषाओ और बोलियो को बोलती हैं, जो कि बड़ी और महत्वपूर्ण भारतीय भाषाओ से अनेक महत्वपूर्ण रूपो मे पृथक् तथा भिन्न दिखलायी जा सकती हैं। यही वास्तविक निर्णायक विशेषक लक्षण है, जो कि जनजातियों को गैर-जनजातीय कृपकों से तब पृथक् करता है, जबकि वे एक ही स्थान, क्षेत्र, ज़िले या गाँव में रहना प्रारम्भ करती हैं। परन्तु यहाँ भी कुछ अस्पष्टता है। क्योंकि यदि हम छोटा नागपुर के अति सीमित क्षेत्र को लेते हैं, तो यह देखने में आता है कि ओरांव और मुण्डा जैसी जनजातियाँ एकदम पृथक् उपभाषा का प्रयोग करती हैं, और साथ ही भूमिज जैसी जनजातियाँ भी हैं, जिन्होंने अपनी जनजातीय उपभाषाओ को एकदम ही भुला दिया है और जो अपने क्षेत्र में प्रचलित भाषा का ही प्रयोग करती हैं।

[28] G. S. Ghurye, *The Aborigines—'so-called'—and their Future*, Gokhale Institute of Politics and Economics, 1943.

[29] V. Elwin, *The Aboriginals*, O.U.P., 1943.

अन्त मे "धर्म" है। भले ही हम "पशूपूजक" और "हिन्दू धर्म" के वैषम्य को अत्यन्त अपरिष्कृत भी मान लें, तो भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि "ओरांव", "सन्थाल", "मुण्डा" और "हो" जनजातियों मे ऐसे अनेक धार्मिक विश्वासो और प्रथाओं के अनगिनत अवयव तथा तत्व हैं, जिनका सामान्य रूप से स्वीकृत हिन्दू धर्म मे कोई भी स्थान नही है। परन्तु भाषा के विपरीत धर्म एक ढीली कसौटी है, क्योंकि यहाँ हमे ऐसे सातत्यक से सामना होता है, जिसमे तीक्ष्ण विच्छेद नही होते, और जहाँ "जाति" और "जनजाति" के मध्य की सीमारेखा विशुद्ध स्वेच्छा से खीची जानी चाहिए। एन० के० बोस ने, जिन्होंने अपने जाति और जनजाति के अध्ययन मे नृजाति-वर्णन और भारत-विद्या के सदर्शो को जोड रखा है, इन दोनो के बीच निरन्तरता पर ज़ोर दिया है। वे "जुआंगो" और "सवरो" जैसी सचल तथा भ्रमणशील कृषक जातियो के विषय मे जो कुछ कहते है वह इसलिए ध्यान देने योग्य है, क्योकि वह मुण्डा, ओरांव तथा सथाल जैसी स्थायी कृषक जातियों के लिए भी लागू होता है। "अब इस संदर्भ मे यह प्रश्न उठता है कि जुआगों और सवरो जैसे समूहो को हिन्दू समाज का अग माना जाना चाहिए अथवा नही, या दूसरे शब्दो मे उन्हे जाति पर आधारित सगठनो का अंग माना जाना चाहिए या नही। पाल लहरा (Pal Lahara) द्वारा वर्णित राज्य में जनमत यही कहेगा कि यद्यपि जुआग अनार्य भाषा का प्रयोग करते हैं और गाय, सूअर, साँप तथा अन्य गन्दे पशुओ का मास खाते हैं, फिर भी उन्हें हिन्दू जातियों और सप्रदायों मे स्थान मिलना चाहिए क्योकि हिन्दुओं में भी तो जो लोग सागर पार की यात्रा करते हैं, वे अस्वच्छ मांस-भक्षण करते है, और साथ ही सभी हिन्दुओ की भाषा एक नही है, और यह भी सच नही है कि वे सब एक ही देवता में विश्वास रखते हैं। दूसरे शब्दों मे, उन (समूहों या संप्रदायों) मे भी, जिन्हे समुचित रीति से हिन्दू समाज का अग गिना जाता है, स्थानीय प्रथाएँ और लोक रीतियाँ इतनी भिन्न हैं कि ऐसा कोई भी कारण नही दीखता जिससे जुआंगो को हिन्दू धर्म का अनार्य सम्प्रदाय न माना जाय।[30]

छोटा नागपुर की जनजातियो के विषय मे कहते हुए बोस ने दो तथ्यो पर ज़ोर दिया है—(1) जनजातियो और वर्णो मे प्रथाओ तथा रीति-रिवाजों की समानता, और (2) इन दोनों में अन्योन्याश्रय के अनेक संबधो का होना। बोस महोदय का तर्क बंगला भाषा मे अधिक विश्वासोत्पादक लगता है क्योकि उस भाषा मे एक ही शब्द "जाति" *जनजाति* और *जाति* या *वर्ण* के लिए प्रयुक्त होता है।

बेली (Bailey) ने इन तथ्यों और सूत्रो को ध्यान में रखा है और शायद हाल के समय मे, जनजाति और वर्ण (जाति) के बीच पार्थक्य या अन्तर को स्पष्ट करने का एक मात्र और गम्भीर प्रयत्न किया है। वे "कुछ विशेष समाजों को पृथक् रूप

[30] Bose, *Hindu Samajer Garhan*, op cit., 14.

से जाति (वर्ण) या जनजाति के रूप मे देखने"[31] के विरुद्ध देते हुए यह सुझाव देते है कि उन्हे सांतत्यक की दृष्टि से लिया जाना चाहिए। इसके अलावा वे आचरण की संपूर्णता के संबंध मे विभेद नही करना चाहते, परंतु राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था के सबंधो के अपेक्षाकृत अधिक सीमित संबंधो मे, जिनका कि इस चर्चा के सदर्भ से निकट रूप से मेल है, विभेद करने के पक्ष मे है। बेली का तर्कपूर्ण कथन यह है कि एक वर्ण समाज सुव्यवस्थित तथा श्रेणीबद्ध होता है, जबकि एक जनजातीय समाज खंडीय और समतावादी होता है। वे कोंडमलो का उदाहरण देते हुए इस तथ्य की ओर सकेत करते है कि उड़ियाओं की तुलना मे कोडों का आपस में भूमि-सबध काफी पार्थक्यपूर्ण हैं। कोडो के विषय मे बेली (Bailey) कहते हैं, "इस जाति की सदस्यता, इस व्यवस्था के अन्तर्गत, जाति के क्षेत्र में स्थित जमीन के स्वामित्व तथा उपयोग की एक शर्त है। भूमि का स्वामित्व किसी अन्य की अधीनता मे काम करने से नही, परतु एक नातेदार की समानता से प्राप्त होता है।"[32] किन्तु उडिया लोगों को भूमि प्राप्त करने का अधिकार प्रभुत्वपूर्ण जाति या वर्ण की अधीनता से ही मिलता है। यदि ऐसी बात है तो कोंड और उड़िया दो पृथक् प्रकार के कृषक हैं।

परंतु यह तथ्य स्मरणीय है कि हाल ही तक कोड सचल कृषक थे, और यहाँ तक कि बेली के क्षेत्र-कार्य के समय मे भी वे "हल" के कृषि-कार्य को "कुल्हाडी" के कृषक कार्य के साथ मिलाते थे। सथाल. ओरांव, मुण्डा और हो जैसी छोटा नागपुर में बसने वाली अपेक्षाकृत बडी जनजातियो पर, जो कि लबे अरसे से स्थायी कृषकों के रूप मे रहते आये है, विचार करते हुए, हम यह देखते हैं कि वंशावली की 'सम्मिलित विशिष्टता तथा रिश्तेदारों के मध्य एकता दीर्घकाल से प्रभावपूर्ण नही रह गयी है। यदि हम बोस द्वारा ऊपर दिये गये हुए मुण्डाओं के विवरण को पढते है, तब हमे ज्ञात होता है कि वे संरचनात्मक रूप से अठारहवी शती ही में "जनजाति" नही रह गये थे। स्वयं बेली समकालीन भारत मे, अपनी योजना की सीमित व्यावहारिक उपयोगिता समझते है, जहाँ कि "वर्ण" अथवा "जाति" और "जनजाति" तीव्र गति से रूपान्तरित हो रहे हैं। अपने विश्लेषण के अन्त मे वे हमे बतलाते हैं कि जाति या वर्ण और जनजाति एक पृथक् ही व्यवस्था में समाहित होती जा रही हैं, जो न तो यह है और न वह।"[33] यह एक कृषकीय व्यवस्था है, जिसका आधार ऐसे कृषकों की विषमांगी जमात पर है, जो विभिन्न मानव-भाषायी श्रेणियो में नही है।

[31] Bailey, ' "Tribe" and "Caste" in India', op. cit., p. 25.
[32] Ibid., pp. 11–12.
[33] Ibid., p. 18.

5

कृषक और श्रमिक

शास्त्रीय मानव-विज्ञान के अतिरिक्त, मार्क्सवादी शोध की परपरा ने कृषको के विषय में हमारी जानकारी को बढ़ाया है। जबकि मानव-विज्ञानियो ने कृषको को जनजातियों के विपरीत रखकर अपना कार्य प्रारम्भ किया है वही मार्क्सवादियो के लिए मौलिक प्रश्न "कृषकों की श्रमिको के सम्बन्ध मे स्थिति" रहा है और अभी भी है। इन दो परस्पर विरोधी विचारधाराओ का मूल, विचार और कर्म की भिन्न धारणाओ मे निहित है और कृषकों के प्रश्न पर ये हमे पृथक् परि-प्रेक्ष्यों की ओर ले जाते है। साथ-साथ लिये जाने पर ये हमे कृषकीय सामाजिक सरचना के स्वरूप के विषय मे बहुत जानकारी देते हैं।

इस समस्या को सुलझाने के इन दोनों दृष्टिकोणो मे कुछ उल्लेखनीय समानताएँ है। दोनो का विकासात्मक अभिविन्यास हुआ है। मानव-विज्ञानी न केवल जनजाति और कृषक को सगठन के दो भिन्न प्रकारों के रूप में देखता है वरन् एक के दूसरे में रूपान्तरण को यदि विश्वव्यापी नही, तो एक सामान्य प्रक्रिया के रूप मे देखता है। इसी प्रकार, मार्क्सवादी के लिए, जहाँ एक ही समाज मे कृषक और श्रमिक साथ-साथ सह-अस्तित्व बनाये रखते हैं, वे सामाजिक-आर्थिक सरचना के दो भिन्न प्रकारो का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनमें एक दूसरे की तुलना में अधिक उन्नत है।

सैद्धान्तिक मानव-विज्ञानी जनजाति के कृषक जाति में रूपान्तरण को विकास की एक सामान्य प्रक्रिया के रूप मे लेने को प्रवृत्त होता है। किन्तु मार्क्सवादी इसके विपरीत, कृषको के श्रमिको मे रूपान्तरण को एक स्वाभाविक प्रक्रिया तथा एक राजनीतिक क्रिया, दोनों ही रूपो मे देखता है।

यह प्रश्न कि कब और कैसे जनजाति के लोग कृपक वन जाते है मुख्यतः सैद्धान्तिक और शैक्षणिक रहता आया है । परन्तु, कृपकों का श्रमिको में रूपान्तरण और समाज के समान्य रूपान्तरण मे कृपको तथा श्रमिको की भूमिका, और इस से संबद्ध प्रश्न जितने राजनीतिक रहे है, उतने ही सैद्धान्तिक तथा शैक्षणिक । यह किसी एक व्यक्ति के राजनीतिक झुकाव पर ही आश्रित रहता है कि वह कृपको तथा श्रमिको की सामाजिक स्थितियो तथा आर्थिक हितो को मूलत. एक ही समझता है अथवा भिन्न । इसी कारण समाज मे इन दो स्तरों की स्थिति और उनके पारस्परिक सबधो के विषय में स्पष्टता प्राप्त करना सहज नही है ।

समाज की तथाकथित गत्यात्मक धारणा को प्रायः दो धार वाले हथियार के रूप मे प्रयोग किया जाता है । इसके द्वारा यह तर्क दिया जा सकता है कि कृपको एवं श्रमिकों की समान स्थिति है अथवा यह भी कि उनकी स्थिति समान नही है। यदि कोई चाहे तो यह दिखला सकता है कि दोनो के हित एक विशेष काल में परस्पर विरोधी हैं । परन्तु इसे इस दृष्टिकोण से समन्वित किया जा सकता है कि कालान्तर में उनके हित एकविन्दुगामी हो जायेंगे । सामाजिक परिवर्तन के सर्वमान्य सिद्धान्त के अभाव मे निष्पक्ष जनों के लिए समूहो की वास्तविक पक्षधरता, और एक समाज-विशेष मे उनके हितों का परीक्षण करना, कठिन हो गया हैं ।

यह सर्वविदित है कि कुल मिलाकर स्वय मार्क्स ने कृपक वर्ग से दूर ही रहने की चेष्टा की । इसको उनके सामाजिक परिवर्तन के सामान्य सिद्धान्त की दृष्टि और उनकी पूँजीवाद से समाजवाद में रूपान्तरण में अभिरुचि से समझना होगा । मार्क्स के विश्लेषण की योजना मे यह रूपान्तरण औद्योगिक श्रमिक वर्ग के नेतृत्व मे होना था । कृपकवर्ग, नवीन सामाजिक व्यवस्था की अगुआई का प्रतिनिधित्व न करके अवशिष्ट प्राचीन व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है । राजनीतिक अखाड़े के केन्द्र में तो पूंजीपतियो और श्रमिकों का सघर्ष होना था; कृपक अधिक से अधिक पार्श्वभाग ही मे रह सकेंगे ।

लेनिन का कृपकों के प्रति दृष्टिकोण प्रकटत. भिन्न था । उन्होने मार्क्स की अपेक्षा कृपको के विषय मे कही अधिक लिखा है और उनके विचार मे मार्क्स के विचारो की तुलना मे कृपको ने सामाजिक क्रांति लाने मे अधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया है । हमे स्मरण रखना चाहिए कि मार्क्स प्रमुखतः फ्रास, जर्मनी और इगलैण्ड जैसे देशो के लिए लिख रहे थे । इसके विपरीत, लेनिन के मस्तिष्क मे हमेशा रूस रहता था और रूस, कृपको की विशाल जनसख्या वाला एक पिछड़ा देश था । लेनिन, जो कि एक प्रमुख रूप से कृपक समाज के एक विशाल राजनीतिक कार्यक्रम के सगठन से प्रत्यक्ष रूप जुड़े हुए थे, कृपकों के प्रति उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण अपना ही नही सकते थे ।

और वर्ग (श्रेणी) के मध्य यह कह कर पार्थक्य करेंगे कि स्तरीकरण तो समाज के समूहों (गुटों) के श्रेणीकरण पर विचार करता है, जबकि वर्ग इन गुटों (समूहों) के हितो के संघर्षों की चर्चा करता है।[1] यद्यपि विश्लेषणात्मक रूप से उनके मध्य विभेद करना संभव है, वास्तविकता यह है कि उनके बीच पर्याप्त समाभिरूपण है। हम सामाजिक श्रेणीकरण की योजना मे कृषक वर्ग के महत्व की ही चर्चा नही करेंगे, वरन् उनके और अन्य सामान्य श्रेणियो या गुटो के मध्य हितो के तादात्म्य या संघर्ष की भी चर्चा करेंगे।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से लेनिन के कार्य का महान् वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने कृषको को कभी सजातीय या अपृथकीकृत श्रेणी के रूप मे नही लिया, वरन् उनकी आतरिक संरचना के गंभीर परीक्षण ही में अपने को व्यस्त रखा।[2] उनका दृष्टिकोण इस दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था कि "किसान एक आलू के बोरे मे आलुओ की तरह है।"[3] अथवा यह कि वे (कृपकगण) एक दूसरे से और जमीन से स्वाभावतः जुड़े हुए एक समान लोगो का समूह मात्र हैं। मार्क्स भी दो प्रकार के कृपको मे अंतर दिखलाते हैं—एक तो क्रांतिकारी तथा प्रबुद्ध कृपक जो भविष्य की ओर (आशा से) देखते है, और दूसरे रूढ़िवादी तथा अन्धविश्वासी कृपक जो केवल अतीत की ही सोचते रहते है, परंतु यह तुलना वैज्ञानिक विश्लेषण का उद्देश्य पूरा न कर मात्र विवाद का विषय बन जाती है।

जैसा कि ऑसोव्स्की (Ossowski)[4] ने कहा है, लेनिन के रूसी कृपकवर्ग की तीन श्रेणियो—कुलक (kulak) अथवा समृद्ध कृपक, स्ट्रेद्नियेक (stredniak) अथवा मध्यवर्गीय कृपक और बेद्नियेक (bedniak) अथवा निर्धन कृपक—में उपविभाजन ने कृपक-वर्ग के अध्येता को एक सामान्य महत्व वाली वैचारिक योजना उपलब्ध की है। यह हो सकता है कि उनका अन्तिम उद्देश्य पूर्व विद्यमान विचारधारा की परिकल्पना के अर्थ में, विभिन्न उपविभाजनो की राजनीतिक दिशा को निर्देशित

[1] Georges Gurvitch and Ralf Dahrendorf are two among many European sociologists who have argued in this way For a brief discussion of their point of view, see my 'Ideas and Interests' in *Studies in Agrarian Social Structure*, O.U P., 1973.

[2] See V. I. Lenin, *Selected Works*, Vol. XII, International Publishers, 1943, and in it particularly 'The Agrarian Question and the "Critics of Marx"', also his *To The Rural Poor*, Lenin, Progress Publishers, 1967.

[3] This is a paraphrase of Marx's well-known statement in his *The Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte*, Foreign Languages Publishing House, n.d.

[4] Stanislav Ossowski, *Class Structure in the Social Consciousness*, Routledge and Kegan Paul, 1963, p. 44 n

करना और तद्विषयक भविष्यवाणी करना रहा हो, फिर भी लेनिन ने इनमे से प्रत्येक उपविभाजन की सामाजिक और आर्थिक विशेषताओं का विश्लेषण करने मे खूब परिश्रम किया है ।

लेनिन की रूसी कृषक विषयक धारणाएँ *नारोद्निकी* (*narodniki*) के विरोध में उभरी है ।[5] *नारोद्निकी* (*narodniki*) परम्परागत रूसी *मीर* (*mir*) के प्रबल समर्थक थे, जो उनकी दृष्टि मे समान जनो की एक स्वभावगत सुघटित जमात थी । *नारोद्निकी* उन वाह्य प्रहारो का प्रतिरोध करना चाहते थे, जिन्हे वे मीर की एकता, समरसता और शान्ति के लिए सकटपूर्ण समझते थे । लेनिन की दलील थी कि *नारोद्निकी* का मीर के प्रति दृष्टिकोण काव्यात्मक था और उसका तत्कालीन वास्तविकता से कोई सामजस्य और संबंध नही था । इसी संदर्भ में लेनिन ने कृषक समुदाय मे परिव्याप्त विषमताओ, विसगतियो तथा अन्तर्विरोधो को उघाड़ने की दिशा मे अनवरत प्रयत्न किया । उनकी यह धारणा थी कि ऐसी विचारधारा जो सम्पूर्ण कृषक वर्ग का यशगान करती हो समृद्धो द्वारा निर्धन कृषकों के शोषण को अनिवार्यत न्यायसगत ठहराएगी ।

रूसी कृषक के लेनिन द्वारा किये गये विश्लेषणो से हमे सम्पूर्ण कृषक वर्ग पर "बाहरी लोगो के प्रभुत्व" की धारणा को सतर्कता से ग्रहण करने की चेतावनी मिलती है । क्योंकि यह स्पष्ट है कि अतीत मे जो भी कुछ स्थिति रही हो, लेनिन द्वारा वर्णित समृद्ध कृषक आवश्यक रूप से हीन स्थिति में कभी नही रहे, और दीन तथा निर्धन कृषक भी सदा केवल वाहरी लोगों द्वारा ही आक्रान्त नहीं होते रहे । यह संभव है कि लेनिन ने केवल विवाद के लिए ही समृद्ध कृषकों एव ग्रामीण गरीबों के बीच की खाई को वढ़ा-चढाकर वर्णित किया हो, परन्तु यह खाई स्वयं लेनिन के मस्तिष्क की उपज नहीं थी ।

यदि हम भारतीय ग्राम्य समाज की ओर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि यहाँ न केवल समूहो के मध्य असमानता है, वल्कि उनके वीच हितों का द्वन्द्व भी है। ये असमानताएँ और द्वन्द्व भूमि के स्वामित्व और उपयोग के इर्द-गिर्द महत्त्वपूर्ण रूप से केन्द्रीभूत हैं। अति सामान्य शब्दो मे, भारत की कृषि-जनसंख्या तीन श्रेणियों में विभाजित की जा सकती है । ये हैं—(1) कृषि कार्य न करने वाले भूस्वामी तथा निश्चित अवधि के लिए भू-स्वामी (tenure holders), (2) कृषि-कार्य करने वाले भूस्वामी और कृषि करने वाले वे असामी जिनके काश्तकारी अधिकार मान्य हैं, और (3) बटाई पर कृषि करने वाले तथा कृषि-श्रमिक। शब्द के समुचित अर्थ में तो श्रेणी (2) के सदस्य ही वास्तविक कृषक हैं; श्रेणी (2) और (3) के सदस्य साथ मिलाकर, अस्पष्ट रूप से कृषक कहे जा सकते हैं; श्रेणी (1) में आने

[5] See Lenin, *Selected Works*, *op. cit.*

तो शब्द के किसी भी अर्थ में कृषक नही कहे जा सकते ।

भारतीय समाजशास्त्री, सामाजिक परपरा को वर्ण (caste) के रूप मे देखने के अभ्यस्त हो गये है जहां श्रेणियां परस्पर एकान्तिक हैं और ऐसी सीमा-रेखाओं से विभाजित है जो स्पष्ट तथा सुनिश्चित रूप से परिभाषित हैं । भारतीय समाजशास्त्री वहां थोड़े भ्रमित होने लगते हैं जहां उनके सम्मुख ऐसी श्रेणियां आ जाती हैं जो अनिश्चित, कुपरिभाषित और प्रायः परस्पर आच्छादित करने वाली होती है । यदि किसी के पास सुस्पष्ट और सुव्यवस्थित मस्तिष्क है तो उसे राजपूतों, जाटो और चमारो के विषय मे चर्चा करने मे जमीदार, किसान और कृषक श्रमिको की चर्चा करने की अपेक्षा कही अधिक सन्तोष प्राप्त होगा ।

जिन श्रेणियों के विषय मे हम विचार कर रहे है उन्हे सुस्पष्टत. सीमांकित करने मे आने वाली कठिनाइयो पर बल दिया जाना चाहिए । लेनिन द्वारा वर्णित कृषको की तीन श्रेणियां—कुलक, स्ट्रेद्नियेक और बेद्नियेक—शायद स्वयं लोगों द्वारा मान्य विभाजन को दर्शाती हैं और भले ही इन विभाजनो को स्पष्टतः सीमांकित न किया जा सके, तो भी उनको लेकर अपने विश्लेषण प्रारम्भ करने के उचित समाज वैज्ञानिक कारण है । परन्तु, यह मान लेना भ्रामक होगा कि ठीक इसी प्रकार का श्रेणीकरण प्रत्येक प्रकार के कृषक-समाज मे उल्लेखनीय विभाजन उत्पन्न कर देगा । भारतीय समाज में हमें द्विविध या चतुर्विध विभाजन-अथवा एक भिन्न प्रकार के त्रिविध विभाजन की आवश्यकता है । मार्क्सवादी अनुसंधान की भावना इसकी अपेक्षा नही करती कि भारत के ग्राम्य-समाज के अध्येता रूस के ग्रामीण समाज के अध्ययन के लिए अपनायी गयी लेनिन की योजना का अक्षरशः अनुकरण करें ।

जो कुछ पहले कहा जा चुका है, उससे यह एकदम स्पष्ट हो जाना चाहिए कि "कृपक" श्रेणी अपने विशुद्ध स्वरूप मे भारत मे नही पायी जाती । यह एक ओर तो काम न करने वाले जमीदार मे विलीन हो जाती है तो दूसरी ओर भूमिहीन कृषि श्रमिक मे । यदि हम एक निश्चित अवधि तक परीक्षण करे तो यह देखने को मिलेगा कि इस प्रकार का आच्छादन न केवल "कृपक" समुदाय (community) और "कृपक" वर्ग (caste) में मिलता है, वरन् कृषक घर-परिवार मे भी । इसका कारण अंशतः तो उच्च सामाजिक स्तर तथा हाथ के काम के बीच अति सवेदनशील विलोम सबंध है, और अशत. जोत-भूमि का अत्यधिक छोटे खण्डो में विभाजन ।

एकदम सही अर्थों में, कृषक घर-परिवार एक ऐसा घर-परिवार है जहां स्त्री और पुरुष दोनो उस जमीन पर कृषि का अधिकाश कार्य करते है, जिस पर या तो उनका पूर्ण स्वामित्व है अथवा व्यावहारिक नियंत्रण । भारत मे, विशेषतः उन क्षेत्रो मे, जहां भीगे धान की खेती होती है, आर्थिक परिस्थितियो के सुधरते ही यथाशीघ्र कृषि कार्य से छुट्टी ले लेने की प्रवृत्ति पहले तो स्त्रियो और तत्पश्चात् पुरुषो

में पायी जाती है। ज्यों ही काम से छुट्टी लेने का काम संपूर्ण हो जाता है और भूमि पर या तो बटाईदार काम करते हैं या कृषि-श्रमिक, तब वह घर-परिवार कृषक-घर-परिवार न रहकर जमीन के मालिकों का घर-परिवार हो जाता है। परन्तु काम से छुट्टी पाना या अलग हो जाना आसानी से संभव नहीं हो पाता है; एक विशुद्ध कृषक-घर-परिवार से बिना काम करने वाले जमीन के मालिकों के घर-परिवार तक बहुत-सी मध्यवर्ती मंजिलें है।

तुला के दूसरे पलड़े में, जमीन का आत्यन्तिक विखण्डन कृषक को अपनी जमीन पर निर्भर रहने के कम से कम और दूसरों द्वारा नियंत्रित जमीन में बटाईदार होने या कृषि-श्रमिक के रूप में काम करने के अधिक से अधिक अवसर देता है। यहाँ भी कोई ऐसा तीक्ष्ण विच्छेद नहीं है, जो कृषक-घर-परिवार को नितान्त भाड़े के श्रम पर निर्भर कर देता हो और गरीब कृषक से विशुद्ध कृषि-श्रमिक तक भी अनेक अन्तर्वर्ती मंज़िलें है।

इस मुकाम पर पहुँचकर, सतर्कता के कुछ शब्द जरूरी हो जाते हैं। हाथ के काम से छुट्टी ले लेने की और मजदूरी की नौकरी पर अधिकाधिक निर्भर रहने की प्रक्रियाएँ, प्रभावित व्यक्तिगत पात्रों के दृष्टिकोण से परिवर्तन की प्रक्रियाएँ दिखलायी देती है। लेकिन संपूर्ण रूप से लिये जाने पर, वे सामाजिक व्यवस्था में किसी बदलाव की द्योतक हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। परन्तु, इस बात को स्वीकार कर लेने के अनेक कारण विद्यमान है कि हमारे विचाराधीन विभिन्न भूमिकाओं में व्यक्तियों का विशेष परिभ्रमण, पारम्परिक व्यवस्था का एक सामान्य अंग था। जब कि यह परिभ्रमण, हाल के समय में, निःसंदेह बहुत बढ़ गया है, फिर भी हमारे पास इस वृद्धि की यथार्थ सीमा अथवा महत्व की कोई ठीक-ठीक माप नहीं है।

इसलिए जिन्हें हम भारत में समीचीन रूप से कृषक कह कर पुकारते है, वे स्पष्टतः परिभाषित जाति नहीं हैं, परन्तु एक ऐसी श्रेणी हैं जिसकी धार आसानी से कुन्द पड़ जाती है। यह श्रेणी, जो जमींदारों के विरोध में एकता के रूप में दिखलायी देती है, स्वयं आन्तरिक रूप से प्रभेदपूर्ण है। इस आन्तरिक प्रभेद को निरूपित करने का सर्वोत्तम ढंग क्या है? इसके पूर्व कि हम "समृद्ध", "मध्यवर्गीय" "गरीब" जैसे आच्छन्न वाक्यांशों या शब्दों को प्रयोग करने का निर्णय लें, यह जानना उचित रहेगा कि सामाजिक संबंधों की संरचना में इनका क्या महत्व या मूल्य है।

स्पष्ट है कि "समृद्ध", "मध्यवर्गीय" और "गरीब" वाक्यांशों से जो अभिप्राय हम लेते हैं वह न केवल एक अंचल से दूसरे अंचल में, अपितु एक काल-विशेष से दूसरे में भी बदलेगा। कृषकों को वर्गीकृत करने की एक स्पष्ट विधि उनकी जोत-भूमि के आकार से मिल सकती है; इससे उन्हें एक ऐसी जानकारी के आधार

पर वर्गीकृत और श्रेणीबद्ध करने का तरीका मिल जाता है, जिसे उपलब्ध करना अपेक्षाकृत सहज है। परन्तु इसकी भी प्रत्यक्ष सीमाएँ हैं। भूमि की उत्पादकता न केवल एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बहुत अधिक बदलती है, वरन् एक ही ग्राम में स्थित भूखण्डो मे भी बदल जाती है। इसके अतिरिक्त भूमि के जोतदारी-अवधि सबधी स्तरो पर भी विचार करना चाहिए; सामान आकार के कृषियोग्य भूखंड भी इस बात मे परस्पर भिन्न हो सकते हैं कि उनमे पट्टे की भूमि तथा पूर्ण स्वामित्व की भूमि का अनुपात क्या है ?

जमीन के आकार के अतिरिक्त, पशुधन और खेती के यंत्रो जैसी अन्य सम्पत्तियों पर भी विचार किया जा सकता है। लेनिन की यह धारणा थी कि पशुधन—विशेपतः घोडों—के कुल योग का स्वामित्व एक कृषक की जमीन-सबधी हैसियत का यथार्थ संकेत देता है।[6] यह कहना कठिन होगा कि यह तरीका भारत मे, जहाँ तक हल चलाने वाले पशुओ का प्रश्न है, कहाँ तक सच हो सकता है, क्योकि यहाँ भारत मे, गरीब किसानो के पास भी, हल के पशु होना मामूली बात है, जिनको साथ लेकर ये गरीब किसान समृद्ध लोगों द्वारा अधिकृत भूमि पर काम करने के लिए मजदूरी पर जाते है। कृषि यन्त्रो का प्रयोग, कुल मिला कर, इस देश में अभी अप्रचलित है और इनका विस्तृत रूप से प्रयोग अभी केवल बड़े फार्मों के मालिकों द्वारा ही किया जाता है।

जमीन के आकार, स्थिति और गुणो मे अन्तर तथा अन्य कृषि-सम्पत्तियो की प्रकृति एव मात्रा कृषको की घरेलू आमदनी के अन्तरों को नियन्त्रित करते है। भले ही, कुछ समय के लिए, हम कृषि से होने वाली आय का हिसाब लगाने मे अन्तर्हित कठिनाइयो की उपेक्षा भी कर दें तो भी कृषक वर्ग (अथवा किसी भी सामाजिक वर्ग) का उपविभाजन कुछ अर्थों मे एकतरफा ही रह जावेगा। क्योंकि, जहाँ निश्चित दायरे के अन्तर्गत आमदनी का निरन्तर वितरण है वहाँ ऐसी कोई स्वाभाविक विभाजक रेखाएँ नहीं हैं, जिनसे हम निश्चित रूप से कह सकें कि ये उपविभाजन दो अथवा तीन अथवा चार होंगे, तथा ये क्या होंगे।[7]

कृषकों को श्रेणीबद्ध करने का अपेक्षाकृत अधिक अच्छा नही, तो समान रूप से अच्छा तरीका उनकी कृषि-कार्य मे वास्तविक भागीदारी की किस्मके अर्थों मे है। *मेरा कहना था कि आदर्श कल्पित कृषक-घर-परिवार वह है, जिसके सदस्य अपनी*

[6] Ibid.

[7] For a general discussion of this problem, see Stanislav Ossowski, 'Old Notions and New Problems: Interpretations of Social Structure in Modern Society' in André Béteille (ed.), *Social Inequality*, Penguin, 1969, for a disscussion relating to the agrarian social structure in an Indian state, see my 'Class Structure in an Agrarian Society' in *Studies in Agrarian Social Structure*, op. cit.

भूमि को खुद जोतते है, और न तो बाहर से भाड़े के मजदूर लेते है और न खुद अपने आप दूसरे के खेतों मे मजदूरी का काम करते हैं। परन्तु यह आदर्श स्थिति तो पूर्णतः कभी-कभी ही प्राप्त हो सकती है। कृपक-घर-परिवार विशेष कार्यों के लिए मजदूरों को काम में लेते है, और किसान भी, बिना अपनी उस विशिष्टता को खोये जिससे उनको परिभाषित किया गया है, अपने आप को विशेष मौसमों मे मजदूरी के लिए उपलब्ध करा देते है। वास्तव मे एक ही कृपक-घर-परिवार के लिए यह असामान्य बात नही है कि वह बाहर के मजदूरों को अपने काम मे लगाये और साथ ही मजदूरी पर दूसरों के यहाँ काम करने के लिए अपने यहाँ से व्यक्ति भेजे।

इस प्रकार "भाडे के काम" को कसौटी मानते हुए, कृपको को तीन व्यापक श्रेणियो मे वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रथमतः, यहाँ ऐसे कृपक-घर-परिवार है, जो नियमित रूप से घर के सदस्यों के श्रम-योगदान की कमी को पूरा करने के लिए बाहरी भाड़े के मजदूरो पर निर्भर रहते हैं। दूसरे वर्ग मे, यहाँ ऐसे कृपक-घर-परिवार है, जो स्वय अपनी निज के अधिकार या स्वामित्व की जमीन को जोतने के अलावा दूसरों के लिए भाडे पर नियमित रूप से काम करते हैं। अन्त मे, यहाँ ऐसे भी घर-परिवार है, जो न तो दूसरो को अपने लिए भाडे पर काम करने के लिए लेते है, और न ही स्वय दूसरों का भाडे पर काम करते है—और साथ ही ऐसे भी है, जो ये दोनों ही काम थोड़ी-थोडी मात्रा मे करते है। जैसा कि भूमि-सम्पत्ति के आकार और आमदनी के विभाजन के मामले में हुआ है उसी तरह कुछ कम सीमा तक यहाँ भी विभाजक रेखाओ का चुनाव मनमाने ढग से ही करना होगा।

इसमे कोई भी सन्देह नही है कि कृपकों के भू-सपत्ति की मात्रा (या आमदनी) के अनुसार वर्गीकरण और उनके कृपि-कार्य मे प्रत्यक्ष योगदान की सीमा तथा प्रकार के आधार पर वर्गीकरण मे व्यापक समरूपता होगी। परन्तु पहले से ही यह धारणा बनाकर कि कृपकों का अपने आप को भाड़े की मजदूरी मे लगाना या भाड़े के मजदूरों को अपने काम में लगाना विशुद्ध रूप से उनकी आर्थिक अवस्था पर निर्भर करता है, एकदम यह मान लेना भ्रमोत्पादक होगा कि उपरोक्त दोनों वर्गीकरण परस्पर परिवर्तनीय है। वास्तव में, इन दो वर्गीकरणो—संपत्ति के आकार के आधार पर और काम मे प्रत्यक्ष योगदान के आधार पर—के साम्य की सीमा एक संस्कृति से दूसरी सस्कृति तक व्यापक रूप से बदलती रहती है।

भारत मे वे कृपक-घर-परिवार जो उच्च सामाजिक स्तर के हैं (या जो अपने आप को उच्च सामाजिक स्तर का समझते है), सामान्यत अपनी स्त्रियो को खेतों मे काम करने के लिए प्रोत्साहित नही करते हैं और इस स्थिति मे, नियमित रूप से, विशेष तौर के कृपि-कार्य के लिए, भाड़े के मजदूरो को काम मे लगाने के लिए

बाध्य हो जाते हैं, भले ही उनकी जमीन का आकार छोटा ही हो। दूसरी ओर, उन किसान-घर-परिवारों में, जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों के कृषि-कार्य करने की परम्परा रही है, भाड़े के मजदूरों पर निर्भर रहना बहुत कम होता है। भारत में बड़ी संख्या मे कृषक श्रमिकों की उपस्थिति और कृषक श्रमिकों के विभिन्न प्रकार के परिष्कृत सामाजिक वर्गीकरण मे घनिष्ठ संबंध है, और यह वर्गीकरण विशुद्ध भौतिक दृष्टिकोण पर ही निर्भर नही होता।

कृषक वर्गों की विशिष्टताओं का निरूपण करते हुए, मैंने सर्वदा शारीरिक श्रम मे उनके प्रत्यक्ष योगदान पर जोर दिया है। सभी कृषक एक जैसा शारीरिक श्रम नही कर सकते। उनके काम करने के ढगों में अवस्था और सैक्स के अनुसार महत्वपूर्ण अन्तर होते हैं। कुछ कृषक, कमोवेश नियमित रूप से, अपने परिवार के सदस्यों द्वारा किये गये काम को पूरा करने के लिए भाड़े के मजदूरों को लगाते हैं। परन्तु किसी न किसी प्रकार के हाथ के काम में योगदान देना तो सभी कृषक-घर-परिवारों की सर्वव्यापक विशिष्टता है। इस दृष्टिकोण से कृषकगण, "भद्र" लोगों से मूलत. पृथक् हैं, और कृषकों तथा श्रमिकों के मध्य एक मूलभूत समानता है।

क्या श्रमिक और कृषक एक अलग श्रेणी बनाते हैं ?—लेनिन ने इस प्रश्न को उठाया था और इसका स्पष्ट नकारात्मक उत्तर दिया था।[8] कृषक और औद्योगिक श्रमिकों के बीच अनेक ढंगों से विभेद किया जा सकता है। उनकी आर्थिक अवस्था, उनकी सांस्कृतिक जिन्दगी और उनके राजनीतिक अनुकूलन मे विभेद हैं। जैसे कि सर्वविदित है, मार्क्स मध्य-उन्नीसवी शती के फ्रासीसी कृषक वर्ग को एक पृथक वर्ग मानने-को इसलिए तैयार नही थे कि फ्रांसीसी किसान राजनीतिक जागृति और सगठन से अनजान थे। क्या एक ऐसा राजनीतिक सयोजन बनाने मात्र से, जो कि उनके हितों की रक्षा का दावा करता है, कृषक समुदाय एक पृथक् वर्ग बन जावेगा ? कृषक वर्ग मे राजनीतिक जागृति का आकलन कैसे किया जा सकता है ?

मार्क्स और लेनिन दोनों ने, कृषक-वर्ग मे "वर्ग-निर्माण" के मापदण्ड के लिए औद्योगिक श्रमिकों का प्रयोग किया है, और हम निश्चय ही कृषक वर्ग के विषय में अपनी अन्तर्दृष्टि को गहरा करते है, जब हम उनका श्रमिक वर्ग के साथ पर्यवेक्षण करते है। इन दोनों मे एक महत्वपूर्ण भेद तो यह है कि औद्योगिक श्रमिक कृषकों की तुलना में कही अधिक विभाजित श्रेणी है। एक विशुद्ध कृषक की

[8] V. I. Lenin, 'The Peasantry and the Working Class' in *Selected Works*, Vol. XII, op. cit.

[9] Marx, *The Eighteenth Brumaire*, op. cit.

जिसमे एक व्यक्ति कार्य-स्थल पर श्रम-विभाजन मे अपनी स्थिति के कारण शामिल है।"[11] मार्क्स ने फ्रेंच कृषक वर्ग की कार्य-स्थितिका विशेष (पारिभाषिक) शब्दो मे वर्णन किया है।[12] सक्षेप मे कहे तो मार्क्स का तर्क यह है कि कृषक की कार्य-स्थिति उसे अन्य कृषको से पृथक् कर देती है, जबकि औद्योगिक श्रमिक की कार्य-स्थिति उसे अन्य औद्योगिक श्रमिकों के अधिकाधिक निकट ला देती है।

इस सीमा तक कि कृषक-वर्ग मे पारिवारिक फार्म आर्थिक संगठन की बुनियादी इकाई है, घरेलू समूह, कार्य से सवद्ध अधिकांश प्रभावी सबंधो के लिए बुनियादी ढाँचा प्रदान करता है, श्रम-विभाजन का फैसला घर-परिवार के सदस्यों की अवस्था और सैक्स (sex) के अनुसार होता है। जहाँ तक कृषको का प्रश्न है, घरेलू समूह की सीमा के बाहर कार्य से सलग्न सबध सामान्यतः स्थानीय समुदाय तक ही सीमित है। जहाँ तक औद्योगिक श्रमिको का प्रश्न है, कार्य स्थिति मे वे सबध निहित हैं जो न केवल घरेलू संबधो से जुदा है वरन् एक बड़ी सीमा तक स्थानीय समुदाय के सदर्भ से भी पृथक् है।

एक वर्ग या श्रेणी की पद-स्थिति, उसके सदस्यों को उपलब्ध प्रतिष्ठा की ओर सकेत करती है। कृषको और श्रमिकों की इस दृष्टि से तुलना करने में अनेक बड़ी कठिनाइयाँ है। क्योकि जबकि भारतीय समाज मे काम का परिष्कृत श्रेणीकरण है, वही हमारे पास ऐसा कोई प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट तरीका नही है जिससे परम्परागत ढंग के कामों की तुलना अपेक्षाकृत नवीन मूल के कामों से की जा सके।

भले ही कृषि और उद्योग क्षेत्रो की विभिन्न गतिविधियो का एक ही मूल्य-निर्धारण हो, तो भी तुलनीयता की समस्या बनी ही रहेगी, क्योकि जब हम एक वर्ग (स्तर) विशेष की स्थिति-महत्ता का आकलन करते हैं, तो उसके सदस्यों द्वारा किये गये काम पर ही विचार नही करते वरन् काम करने मे उनकी स्वतन्त्रता की मात्रा पर भी विचार करते है। औद्योगिक गतिविधियाँ, कृषि-गतिविधियो की तुलना में, उच्चतर ठहरायी जा सकती है, परन्तु एक वेतनभोगी कर्मचारी होने के बजाय अपनी स्वतः प्रेरणा से श्रमिक होना, कृषि-श्रम से जुड़े नकारात्मक मूल्य को निरस्त करने हेतु पर्याप्त से भी अधिक है।

एक वर्ग या स्तरण विशेष की राजनीतिक स्थिति का पर्यवेक्षण उसके सदस्यों में व्याप्त राजनीतिक जागरूकता के स्तर तथा राजनीतिक रगमंच पर उस जागरूकता को अभिव्यक्ति देने के लिए आन्दोलनो तथा संगठनो की उपस्थिति को दृष्टि मे रखते हुए करना चाहिए। मार्क्स के प्रसिद्ध कथन के अनुसार, कोई (समाज का) स्तरण तब तक वर्ग नही बन सकता, जब तक उसके सदस्यों में "स्थानीय

[11] Ibid., p. 15.
[12] Marx, *The Eighteenth Brumaire*, op. cit.

अन्तर्संबंध मात्र" है, और "उनके हितों की पहचान उनमे किसी समुदाय, राष्ट्रीय बंधन और राष्ट्रीय संगठन को जन्म नहीं देती।"[13]

मैंने राजनीतिक स्थिति को एक पृथक् और विशेष कारण इसलिए माना है कि यद्यपि यह बाजार की स्थिति, श्रम-स्थिति और पद-स्थिति से स्पष्ट रूप से प्रभावित होती है, यह स्वयं इन तीनों को, अवसर पाते ही जबर्दस्त रूप से प्रभावित करती है। इसलिए, यह सर्वविदित है कि जहाँ भी श्रमिकों के बीच एक प्रभावी राजनीतिक संगठन है, वहाँ वे (श्रमिक) अपनी बाजार स्थिति और कार्य-स्थिति को अपने लाभ के अनुकूल बदल सकते हैं।

इसलिए, इतना कहना पर्याप्त नहीं है कि औद्योगिक श्रमिकों की भाँति कृषक भी एक निम्नस्तरीय स्थान में है और उनका शोषण होता रहता है। न केवल उनके शोषण का ढंग, वरन् शोषण के प्रति उनकी प्रतिक्रिया भी पृथक् हो सकती है। इसके अतिरिक्त, कृषक आन्दोलनों और सगठनों को संगठित करने की संभावनाएँ उस काल से बहुत अधिक बदल गई है जब एक शती से भी अधिक पूर्व मार्क्स ने फ्रांस के कृषक समाज के विषय में लिखा था, और आज हमें इस बात पर लेनिन की भाँति विश्वास करने का भी कोई कारण नहीं दीखता कि ऐसे आन्दोलनों या संगठनों को अपने नेतृत्व के लिए सगठित औद्योगिक श्रमिक वर्ग पर निर्भर रहना पड़ेगा। कुछ पूर्ववर्ती सामान्य सिद्धान्तों के अनुसार इस बात का निर्णय नहीं किया जा सकता है कि कृषक अपनी राजनीतिक स्थिति के प्रति कैसा रुख अपनायेंगे, परन्तु इसे, प्रत्येक प्रकार के समाज के लिए, अनुभवाश्रित रूप से ही स्थापित करना होगा।

यहाँ तक तो हमने कृषकों को औद्योगिक श्रमिकों के संदर्भ में देखा है। ये ऐसे संस्तरण या वर्ग हैं जिनमें साम्य या विभेद प्रदर्शित किया जा सकता है परन्तु जो एक-दूसरे से प्रत्यक्ष रूप में अन्तर्क्रिया नहीं करते। मेरी दृष्टि में, कृषकों को कृषि-श्रमिकों के संदर्भ में देखना अधिक फलप्रद होगा, क्योंकि यहाँ हम न केवल समानताओं और पार्थक्यों पर ही विचार करेंगे वरन् इन दोनों के मध्य अन्तर्क्रिया पर भी विचार करेंगे।

पहले हम पारिभाषिक शब्दावली से सम्बद्ध एक प्रश्न को सुलझा लें। जैसा कि डैनियल थॉर्नर (Daniel Thorner) ने इंगित किया है, "कृषक" शब्द को व्यापक और संकीर्ण दोनों प्रकार प्रयुक्त किया जा सकता है।[14] संकीर्ण अर्थों में

[13] Ibid., p. 124.

[14] Daniel Thorner, 'Peasantry' in David L. Sils (ed.), *International En[illegible] pedia of the Social Sciences*, The MacMillan Company and The Free [illegible] 1968, pp. 503–11.

"कृषक" लघु भू-स्वामी हैं, जो निजी भूमि को, जिस पर इनका स्वामित्व अथवा नियन्त्रण है, जोतकर आजीविका अर्जित करते हैं। परन्तु सामान्यतः ग्राह्य व्यापक अर्थों में, "कृषक" वे सभी है जो भूमि में काम करके गुजारा करते हैं और इनमे कृषि-श्रमिक और बटाईदार भी शामिल हैं। मार्क्सवादियों ने "कृषक" शब्द को प्रायः सदैव ही उसके संकीर्ण और कठोर अर्थों में प्रयुक्त किया है—और मैं भी उन्हीं के प्रयोग को इसलिए अपनाना चाहता हूँ क्योंकि एक इसी तरीके से हम उन दोनों के मध्य संबंधों की गहराई से खोज कर सकेंगे, जो स्वयं निजी स्वामित्व की और स्वनियंत्रित भूमि पर काम करते हैं और जो दूसरो द्वारा नियंत्रित ज़मीन पर काम करते हैं।

कृषक वर्ग की अपेक्षाकृत कठोर परिभाषा को तथा इसमे कृषकों और कृषि-श्रमिको के मध्य समाहित अन्तर को स्वीकार करते हुए, हमे यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि क्यों यह अपेक्षाकृत अधिक व्यापक धारणा इतने आम तौर पर प्रयोग में आती है। क्योंकि, यद्यपि यह संभव भी है और वांछनीय भी कि इस अन्तर को विश्लेषणात्मक रूप से किया जाये, वास्तविक जगत् में इन दोनों श्रेणियों मे प्रायिक और यथेष्ट परस्पर-व्यापन है जिसके कृषकों और कृषि-श्रमिको के मध्य संबंधो के लिए महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं। जहाँ इन दो श्रेणियों में पर्याप्त परस्पर-व्यापन है, वहाँ कृषको और कृषि-श्रमिको के बीच संबंध एक विशेष प्रकार के हैं; जहाँ यह परस्पर-व्यापन घट गया है और ये दो श्रेणियाँ परस्पर रूप से एकान्तिक हो गयी है, वहाँ संबंध अन्य प्रकार के हैं।

भारत मे कृषि-श्रमिको की बड़ी जनसंख्या है। पिछली शती में यह जनसंख्या स्वतन्त्र रूप से भी तथा अन्य कृषि-सस्तरणों की तुलना मे भी बढ़ी है, और शायद गत दशक मे वृद्धिशील गति से बढी है। परन्तु, यह बात नि.संदेह सत्य सिद्ध हो चुकी है कि उन्नीसवीं शती के आरम्भ मे, भारत में कृषि-श्रमिकों की पर्याप्त जनसंख्या थी,[15] तथा ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक काल मे भी भूमि पर काम करने वालों की एक समाग श्रेणी नही थी।

"कृषि-श्रमिक" शब्द, नि.संदेह, संकुचित रूप में केवल उन श्रमिको के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है, जो नकद मज़दूरी के लिए काम करते हैं और उस नकद के बंधन द्वारा ही अपने मालिक से बँधे होते हैं। इस अर्थ में तो कृषि-श्रमिक शायद अपेक्षाकृत नूतन मूल के है, परन्तु इस शब्द को इस रूप मे प्रयुक्त करना और उन श्रमिको को, जो कि नकद के स्थान पर वस्तुओं के रूप में मज़दूरी पाते हैं और अपने मालिकों से परम्परागत बंधनो द्वारा बँधे है, छोड देना, अनुचित रीति से प्रतिबंधक है। ऐसा इसलिए है क्योंकि उन कृषि-श्रमिकों,

[15] Dharma Kumar, *Land and Caste in South India*, Cambridge University Press, 1965

जिन्हें कि नकद मजदूरी मिलती है, और उन कृषि-श्रमिकों, जिन्हें मजदूरी माल या वस्तुओं द्वारा मिलती है, मे एक ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय निरन्तरता है।

1971 की गणना के अनुसार समस्त श्रमिको की प्रायः ठीक 30 प्रतिशत संख्या और कृषि मे काम करने वालों की 40 प्रतिशत से कुछ अधिक संख्या कृषि-मजदूरो के रूप मे दर्ज की गयी थी। ये जोड़ की सख्याएँ सारे श्रमिक समूह में कृषि-मजदूरो की सघनता और महत्ता का सामान्य आभास मात्र देती हैं। आंध्र और केरल इन दो राज्यो में कृषि मे काम करने वाले मजदूरों की सख्या खेतिहरों से कही ज्यादा थी, अथवा खेती मे लगे कुल श्रमिक-समूह के आधे से अधिक थी, और दो अन्य राज्यो तमिलनाडु और बिहार मे उतने ही कृषि-मजदूर थे जितने कि खेतिहर।

1971 की जनगणना की अस्थायी तालिकाओ मे दिये गये आँकड़ों को जरा सावधानी और सतर्कता से समझना होगा, क्योकि इनमे अनेक उलझाऊ लक्षण हैं, जिनको समझाना आसान नही है। 1961 और 1971 के बीच सब श्रमिको मे कृषि-मजदूरो का अनुपात 18.87 से 29.98 प्रतिशत हो गया है। पंजाब, हरियाणा और राजस्थान जैसे अनेक राज्यो मे ये अनुपात दुगुने से भी ज्यादा हो गये हैं। जनसंख्या के आँकड़े कभी-कभी ऐसे नाटकीय परिवर्तनो को दिखला देते हैं जो सूक्ष्म परीक्षणों के बाद भ्रमोत्पादक सिद्ध होते है।[16] परन्तु वस्तु-स्थिति जो भी हो, यह सुनिश्चित मालूम पड़ता है कि हमारे देश मे कृषि-मजदूरों की न केवल एक भारी आबादी है, वरन् वह बढ भी रही है।

कृषको और औद्योगिक श्रमिकों की तुलना करने में कुछ कठिनाइयो और समस्याओ को हम तब आसानी से हल कर सकते है, जब हम उनकी तुलना कृषि-मजदूरो से करते है। कृषि-मजदूरो की बाजार स्थिति प्रायः निरपवाद रूप से कृषकों की बाजार स्थिति की तुलना मे निकृष्ट है, और यही स्थिति शायद उन सीमित क्षेत्रो मे भी है, जहाँ कि अधिक उत्पादन से जैसा कि पंजाब मे, और संगठित राजनीतिक कार्य से जैसा कि केरल में, मजदूरी काफी बढी है। कृषक का कृषि-मजदूर के रूप में रूपान्तरण आज भी इस बात का सबसे आम संकेतक है कि कृषक की बाजार स्थिति नीचे गिरती जा रही है।

कृषि-मजदूरों की कार्य-स्थिति, कृषको की कार्य-स्थिति के समान हो भी सकती है और नही भी हो सकती है। जहां वे अपने ही गांव में न्यूनाधिक स्थायी रीति से कार्यरत है और जहां घर-परिवार के सदस्य साथ ही नियुक्त हैं, उनकी कार्य-

[16] See J. Krishanmurty, 'Working Force in 1971 Census: Some Exercises on Provisional Results', *Economic and Political Weekly*, Vol. VII, No. 3, January 1972, pp. 115-18.

स्थिति, मालिक-कृषक की कार्य-स्थिति से अधिक भिन्न नहीं भी हो सकती। परन्तु *कृषि-श्रमिकों को कुछ ज्यादा ही पृथक् ढंग से काम करना पड़ता है।* कृषि-क्षेत्र में मजदूरी का काम अधिकाधिक संविदात्मक (ठेकेदारी का) बनता जा रहा है, और जब ऐसा होता है तो यह संभव है कि एक ही घर-परिवार के अलग-अलग सदस्य एक ही साथ या एक ही गाँव में भी कार्य-नियुक्त न हों। यहाँ भी कृषि-मजदूरों को "ग्रामीण श्रमजीवी" मानना भ्रमपूर्ण है, क्योंकि उनकी कार्य-स्थिति *और औद्योगिक श्रमिकों की कार्य-स्थिति के बीच* महत्वपूर्ण अन्तर निरन्तर विद्यमान रहते हैं।

कृषि-मजदूरों का पद स्पष्टतः कृषकों के पद से निम्न स्तर का है। यद्यपि वे दोनों एक ही सामान्य प्रकार का काम करते हैं, फिर भी जो मजदूरी के लिए काम मे नियुक्त हैं—भले ही नकद या जिन्स मे—उन पर साधारणत. अधिक जटिल और भारी काम लादे जाते हैं। यह सर्वविदित है कि उच्च-स्तरीय कृषक वर्ग—जैसे जाट—के वे सदस्य, जिन्होंने अपनी जमीन का अधिकार खो दिया है, असामी-काश्तकार के रूप में काम करने को तो शायद तैयार हो सकते हैं, परन्तु मजदूरी पाने वाले श्रमिक के रूप मे नौकरी करने को, विशेषतः पद (प्रतिष्ठा) के कारण, अनिच्छुक रहते हैं, और जो बात पुरुषों के लिए लागू होती है, स्त्रियों के लिए तो और भी ज्यादा लागू हो जाती है।

कृषि-मजदूरों की राजनीतिक स्थिति कुछ द्वैधता सामने लाती है। उनकी "निम्न-स्तरीय दशा" एक अर्थ मे उनके लिए आमूल-चूल परिवर्तनों के कार्यक्रमों के लिए *संगठित होना आसान* कर देती है। परन्तु उनकी आर्थिक असुरक्षा और सामाजिक निम्नवर्गता की भावना, दूसरे अर्थों में, उनके संगठन को अजीब ढंग से भेद्य बना देती है। जैसा कि ऐसे सब मामलों में होता है, उनके संगठन की शक्ति या दुर्बलता उस वर्ग के स्वरूप पर निर्भर करती है—जिसके विरुद्ध वह संचालित है।

कृषि-मजदूरों का राजनीतिक सगठन देश के कतिपय सीमित भागों मे सफल हुआ है। सब कुछ मिला कर यह (संगठन) तुलनात्मक रूप से, गीले धान की खेती के क्षेत्रों में—विशेषत दक्षिण भारत के कुछ जिलों मे जैसे केरल मे एलप्पी और तमिलनाडु मे तंजौर में—अधिक सफल हुआ है। इन जिलों में, वास्तव मे, *सबसे अधिक सफल कृषकीय संगठन, कृषि-मजदूर सगठन है न कि किसान सभाएँ* जो आम तौर से सभी किसानों के हितों का प्रतिनिधित्व करती है।

कुछ लोग यह तर्क देते है कि कृषि कार्य की मजदूरी केवल उसी अवस्था में पर्याप्त रूप से *बढी है, जब कृषि-श्रमिकों का काफी मजबूत राजनीतिक संगठन* सफलतापूर्वक इस मजदूरी-वृद्धि के लिए माँग करता है। प्रणव वर्द्धन ने देश के विभिन्न भागों की कृषि-मजदूरी का तुलनात्मक अध्ययन करके इस तर्क की पुष्टि करनी

चाही है। वर्द्धन के अनुसार, लुधियाना ज़िले मे जहाँ 1962–3 तथा 1967–8 के मध्य उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई थी वास्तविक मजदूरियाँ कम बढ़ी थी, जबकि केरल के एलप्पी तथा पालघाट जिलो मे, उसी काल मे, मजदूरियाँ अधिक बढी।[17]

टी० के० ऊम्मेन (T. K. Oommen) ने एलप्पी ज़िले में कृषि-मज़दूरो की वास्तविक मज़दूरियों की वृद्धि के साथ जुड़े हुए सभी कारणो का विचारपूर्वक परीक्षण किया है।[18] इस मजदूरी की वृद्धि के साथ-साथ व्यापक और प्रचण्ड कृषि-आन्दोलन तथा विग्रह जुड़े हैं। इन विग्रहो के लिए ज़िम्मेदार आर्थिक कारणों मे प्रमुख, भूमिहीन कृषि-मज़दूरो का बृहद् एकत्रीकरण तथा ज़मीनों का आत्यन्तिक विखण्डन हैं। 1961 की जनगणना मे भी कृषि मे लगे आधे से भी अधिक मजदूर कृषि-श्रमिक थे, और हाल मे किया गया सर्वेक्षण दिखलाता है कि लगभग 90 प्रतिशत कृषियोग्य भूखण्ड 2.5 एकड या उससे भी कम के है।[19] यद्यपि सारे भारत में बहुत ज्यादा भूमिहीनता और भूमि का विखण्डन है, तब भी इन आँकड़ो को असामान्य रूप से ऊँचा समझना चाहिये।

एलप्पी ज़िले मे कृषि-मज़दूरो की आर्थिक स्थिति के दो विशेष ध्यान देने योग्य लक्षण है। इनमें प्रथम तो इन कृषि-मजदूरों मे व्याप्त बहुत अधिक भौगोलिक गतिशीलता है। ऊम्मेन कहते है, "एलप्पी ज़िले मे सड़कें और यातायात और सचार-व्यवस्था सब भली प्रकार विकसित हैं, और इससे लोगो को आवागमन मे बड़ी सुविधा मिलती है। फसल कटने के मौसम मे स्त्रियों और पुरुषों को बड़ी सख्या मे, बसो द्वारा खेतों की ओर जाते देखना एक आम बात है।"[20] दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि एक ही व्यक्ति एक ही साथ अक्सर एक कृषि-श्रमिक और औद्योगिक मजदूर दोनो है। ये दोनो विशेषताएँ केरल की बस्तियों की विशिष्ट पारिस्थितिकी (ecology) से सबधित है जहाँ ग्रामीण-शहरी प्रभेद, देश के अन्य भागों की तुलना मे, कही अधिक कमजोर है।

ऊम्मेन के अनुसार, "कुट्टानद में, सन् 1939 मे, ट्रावनकोर कर्षक थोझीलाली (कृषि-मज़दूर) यूनियन (टी.के.टी.यू.) की शाखा के रूप मे प्रथम कृषि सगठन गठित किया गया।"[21] अपने आरभिक जीवन से ही, टी के.टी.यू. ज्यादातर कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा नियंत्रित था और 1964 मे कम्यूनिस्ट पार्टी मे विभाजन हो जाने से टी के टी.यू. भी दो संगठनों—कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा नियत्रित केरल कर्षक

[17] Pranab Bardhan, 'Green Revolution and Agricultural Labourers', *Economic and Political Weekly*, Vol V, Nos 29–31, July 1970, pp. 1239–46.

[18] T. K. Oommen, 'Agrarian Tension in a Kerala District, An Anaysis', *Indian Journal of Industrial Relations*, Vol. 7, No. 2, 1971, pp. 229–68

[19] Cited in Oommen, op. cit.

[20] Oommen, op cit, p. 241.

[21] Ibid, p. 246.

थोझीलाली फेडरेशन और कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) द्वारा नियंत्रित केरल राज्य कर्षक थोझीलाली यूनियन—में विभाजित हो गयी। इनमें कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) का संगठन अपेक्षाकृत अधिक सशक्त रूप से उभर कर सामने आया।

केरल प्रशासन ने जुलाई 1957 मे एक त्रिपक्षीय समिति का गठन किया, जिसमें प्रशासन, कृपक और कृषि के मजदूर सम्मिलित थे।[22] तब से कृषि-श्रमिको के प्रतिनिधियो ने मजदूरी और काम की दशाओ मे अनेक सुविधाएँ प्राप्त कर ली हैं, यद्यपि श्रम-संघो की आपसी प्रतिस्पर्द्धा के कारण इनकी प्रभावोत्पादकता दूसरी जगहों की भाँति यहाँ भी कमजोर पड़ गयी है। ऊम्मेन का विश्लेषण यह दिखलाता है कि एलप्पी मे कृषि-मजदूरो की तुलनात्मक सफलता का कारण केवल एक ही उपकरण नही है परन्तु इसका कारण उन विभिन्न उपकरणों मे खोजा जा सकता है, जो अन्यत्र पृथक्-पृथक् रूप मे विद्यमान हो सकते हैं, परंतु सामान्यतः एक ही सम्मिलन में नही।

अन्यत्र हमने उन उपकरणो या कारणो की विस्तार से चर्चा की है, जिन्होंने तमिलनाडु के तजौर जिले में कृषि-श्रमिको की राजनीतिक शक्ति मे वृद्धि करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।[23] वहाँ भी कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) द्वारा नियंत्रित एक सशक्त कृषि-मजदूर संगठन विद्यमान है जिसने मालिको, कामगारों और प्रशासन के प्रतिनिधियों के त्रिपक्षीय सम्मेलन में, अधिक मजदूरी के लिए सौदा करने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। मैंने भी ऊम्मेन की तरह यही तर्क दिया है कि तजौर मे कृषि-श्रमिक-सगठन को मिली सफलता के पीछे विभिन्न कारणो का सयोजन है यद्यपि ये कारण वे ही नही है, जिन्हे एलप्पी जिले मे किये गये ऊम्मेन के विश्लेषण के दौरान चीन्हा गया था।

एलप्पी और तजौर से प्राप्त सामग्री से एक बात स्पप्ट होती है जिस पर टिप्पणी करना जरूरी है। कृषि समाज मे मालिक और मजदूरो के संबंधों की चर्चा करते समय हम असंबद्ध और ढीले तरीके से जमीदारों और भूमिहीन कृपकों की चर्चा करते है। जिस बात पर मैं जोर देना चाहूँगा यह है कि एलप्पी और तंजौर दोनो स्थानो पर अधिकाश संख्या में काम देने वाले लोग "जमीदार" कहे जाने की तुलना में "कृपक" ही कहे जा सकते है, क्योंकि ये वे क्षेत्र हैं, जिनमे कृषि मे लगे आधे से भी अधिक लोग कृषि-मजदूर हैं और जिनमे जोत-भूमि का अधिकाश भाग—एलप्पी में 98 प्रतिशत से भी अधिक—5 एकड़ से भी कम है। स्पष्ट है कि अनेक भूमिहीन श्रमिक उन लोगो द्वारा नियुक्त किये गये होंगे जो स्वय अत्यल्प

[22] Ibid., p. 251.

[23] 'Agrarian Relations in Tanjore District, South India' in my *Studies in Agrarian Social Structure*, op. cit.

कृषि-भूमि के स्वामी होंगे। यह मान कर चलते हुए कि विशुद्ध रूप से स्वय-नियुक्त कृषकगण जरा कम ही है और हमारा वास्ता उन्ही से है जो लगभग कमोबेश विशुद्ध प्रकार के हैं, कृषकों और कृषि-श्रमिको के हितो मे गम्भीर सघर्ष होगा।

इन द्वन्द्वों की उपस्थिति और उससे कृषक आन्दोलनों और संगठनों के नेताओ के लिए उत्पन्न समस्याएँ स्पष्ट रूप से तब सामने आ जाती हैं, जब हमारा ध्यान एक भिन्न ही क्षेत्र—अर्थात् पश्चिम बंगाल—की ओर जाता है। पश्चिम बगाल में किसान आन्दोलनों की एक लम्बी परम्परा रही है, और भारत के सभी राज्यो की तुलना में केरल को ही भांति वहाँ भी सबसे सशक्त किसान सभाएँ सगठित हुई है। परन्तु वहाँ कृषि-श्रमिक प्रभावी रूप से सगठित नहीं हो सके हैं और संगठित राजनीतिक गति-विधियों द्वारा मजदूरी वढाने और काम की दशाओ मे केरल तथा तंजौर जैसे सुधार लाने मे वे असमर्थ रहे हैं।

पश्चिम बंगाल की तुलना केरल तथा तंजौर ज़िले से करने पर हम इनकी यथार्थ अवस्था मे कुछ अन्तर पाते हैं। पश्चिम वगाल मे कृषि-श्रमिको का उतना बड़ा एकत्रीकरण नही है जितना कि इन दोनो क्षेत्रो मे से प्रत्येक मे है। परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि ठेठ कृषि-श्रमिक जो केवल खेती की मजदूरी द्वारा जीविकोपार्जन करते हैं, पश्चिम बंगाल मे, केरल और तजौर ज़िले की तुलना में कहीं कम हैं। पश्चिम बंगाल के अधिकांश ज़िलो मे खेती करने वाले भू-स्वामी, बटाईदार और मजदूरी वाले श्रमिको का काफ़ी माला मे परस्पर व्यापन है। परिणामत. कृषि-क्षेत्र मे मालिक-नौकर सबंधो ने इस राज्य मे वह महत्ता प्राप्त नही की, जो कि उन्हे दक्षिण के कुछ क्षेत्रो मे मिली।

पश्चिम बगाल मे "कृषक" और "कृषि-श्रमिक" आर्थिक रूप से न केवल मिश्रित श्रेणियाँ हैं, वरन् सामाजिक रूप से भी वे विषमागीय श्रेणियाँ है। कृषि-श्रमिक सवर्ण हिन्दू, आदिवासी और हरिजनों मे विभक्त हैं। पश्चिम बगाल में हरिजनो और अदिवासियों का अन्तर काफी स्पष्ट है, और प्राय गाँव के बस्ती के प्रारूप मे प्रतिबिंबित होता है। तंजौर ज़िले में वे तालुके जहाँ कृषि-श्रमिकों का बाहुल्य देखा जा सकता है इसी श्रेणी में हरिजनो का भी बाहुल्य दिखलाते हैं। इसके विपरीत, पश्चिम बगाल मे कृषि-श्रमिको में व्याप्त अनेक पद-विभेद उनके राज-नीतिक संगठन के मार्ग मे बाधाएँ उपस्थित करते है।

बंगाल में प्रथम बड़ा कृषक संघर्ष, किसान सभा द्वारा संगठित 1946–7 का तेभागा आन्दोलन था। इस आन्दोलन का उद्देश्य बटाईदार के भाग को आधे से दो-तिहाई करना और उसकी आर्थिक स्थिति में अन्य सुधार प्राप्त करना था। इसे तत्कालीन अविभाजित बगाल की तत्कालीन संयुक्त किसान सभा ने संयोजित किया था। तेभागा आन्दोलन के इतिहासकार सुनील सेन ने, जिन्होंने स्वयं इस आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया था, बंगाल की किसान सभा के सम्मुख प्रारंभिक

काल से ही आयी दुविधापूर्ण स्थितियों के कुछ संकेत हमें दिये है। "ऐसा लगता है कि किसान सभा के सम्मुख सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय किसान-एकता को बनाये रखना था और उस सभा मे उन्ही माँगो पर ज़ोर दिया गया था, जो सभी श्रेणियों के किसानों के हितो के अनुरूप हों, ताकि उभरते हुए साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन के अंग के रूप मे एक बृहद् कृपक-आन्दोलन का संयोजन हो सके।"[24] तेभागा आन्दोलन का वर्णन करते हुए, सेन, लेनिन के समय से किये गये "कृपक" और "कृपि-श्रमिक" के अन्तर की व्यवस्थित रूप से उपेक्षा करते हैं, और बार-बार "समृद्ध कृपक", "मध्यवर्गीय कृपक", "गरीब कृपक" और "भूमिहीन कृपक" (जिनमे बटाईदार तथा कृपि-मज़दूर शामिल है) का ही जिक्र करते हैं। अब यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि 1946–7 मे तेभागा आन्दोलन मे विभिन्न श्रेणियो और वर्गों के हित कहाँ तक समाभिमुख हो सके होगे।

तेभागा आन्दोलन कुल मिलाकर अपने उद्देश्यो को प्राप्त करने मे असफल रहा परन्तु, वे माँगें, जो उसने उठाई थी, बरकरार बनी रही। 1968 और 1970 के मध्य पश्चिम बंगाल मे कृपि क्षेत्र मे बड़े पैमाने पर अशांति रही। इन दो आन्दोलनों मे एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि बाद वाला आन्दोलन तब सयोजित किया गया था जब मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के वर्चस्व वाली संयुक्त मोर्चा सरकार सत्तारूढ थी। आन्दोलन था भी काफी बड़े पैमाने पर और इसकी माँगें भी अधिक महत्त्वाकांक्षी थी। परन्तु असल मुद्दा फिर भी वही था : सामान्य रूप से तो यह कि भूमि उसे जोतने वाले को ही मिले और विशिष्ट रूप से यह कि बटाईदार के लिए अपेक्षाकृत अधिक अच्छी शर्तें हों। इसके अतिरिक्त, एक बार फिर, इस कार्यक्रम ने कृपक एकता पर ज़ोर दिया, और गरीब किसानो, बटाईदारों और कृपि-श्रमिकों के हितो मे तादात्म्य और घनिष्ठता स्थापित करने पर बल दिया।

यह कहना कठिन है कि किसान सभा ने गरीब किसानों और बटाईदारो के लिए क्या स्थायी लाभ प्राप्त किये। परन्तु, कृपि-श्रमिको को विशेप आर्थिक लाभ नही हुआ, और पश्चिम बंगाल मे, केरल और देश के कई अन्य भागो की तुलना मे, कृपि-मजदूरी अब भी पर्याप्त न्यून है।

पश्चिम बंगाल मे कृपि-श्रमिकों के प्रभावी संगठन के विकास को अवरुद्ध करने वाले कतिपय बुनियादी कारणो को ऊपर कही कहा जा चुका है। यदि कोई बगाल (बाद में पश्चिम बंगाल) किसान सभा के पिछले तीस वर्षों के दस्तावेज़ों को पढेगा, तो वह इस प्रकार के सगठन के प्रति किसान सभा के तत्कालीन नेताओं

[24] Sunil Sen, *Agrarian Struggle in Bengal: 1946–47*, People's Publishing House, 1972, p. 80.

की द्वैधवृत्ति से परिचित होगा ।"[25] चालीस के दशक में, इस समस्या पर विस्तार से विचार किया गया और आम राय यही थी कि ऐसा सगठन गठित करना वांछनीय है । ठीक इसी प्रकार की आम राय साठ के दशक के अन्तिम भाग में भी पायी जाती है और उसी प्रकार उचित कार्यवाही का अभाव भी । केरल तथा पश्चिम बंगाल में दिखाई देने वाले अन्तर से यह स्पष्ट है कि कृषि-श्रमिकों की अवस्था तब तक नही सुधर सकती, जब तक वे प्रभावी रूप से सगठित नही हो जाते, और इस संगठन के लिए कुछ ऐसी बुनियादी दशाओं का होना अनिवार्य है जो व्यापक रूप से मौजूद नही हैं ।

[25] See my 'Peasant Associations and the Agrarian Class Structure' in *Studies*

6

मार्क्सवाद और आधुनिक समाजशास्त्र

आज के भारत में जो शास्त्रीय (academic) समाजवैज्ञानिक सक्रिय मार्क्सवादियो के साथ संवाद शुरू करना चाहता है, उसे चोट खाने का जोखिम उठाना ही होगा। ऐसा लगता है कि समाजशास्त्रियो को जाति, नातेदारी संबंधों एव रीति-रिवाजों का अध्ययन करते देखकर तथा समाजशास्त्रीय अनुसधान की तुच्छता पर छीटा-कशी करके तो मार्क्सवादी खूब प्रसन्न होते हैं। किन्तु जब समाजशास्त्री उत्पादन के सामाजिक सगठन, खेतिहर वर्ग की संरचना और किसान आन्दोलन तथा सगठन जैसे विषयो की ओर मुड़ता है तो वह गहरे सन्देह का पात्र बन जाता है।

समकालीन भारत मे मार्क्सवाद और शास्त्रीय समाजवाद के बीच जो अनिश्चित संबंध दिखायी देता है वह अनूठा नही। इन दो अभिगमों या परिप्रेक्ष्यो के बीच तनाव का मूल कारण चिन्तन और कर्म मे सामंजस्य स्थापित करने के दो भिन्न मार्गों का होना है। इस तरह एक प्रकार से इसका एक सार्वभौम चरित्र है जो विभिन्न देशकाल में अपने को विभिन्न प्रकार से प्रकट करता है।

यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि शास्त्रीय समाजविज्ञान से (सामाजिक नृशास्त्र समेत) भारत का परिचय ब्रिटेन और अमेरिका के द्वारा उस समय कराया गया जब इन दो देशो में मार्क्सवाद और समाजशास्त्र के बीच पूरा-पूरा विभाजन था। निश्चय ही अधिकांश बर्तानवी और अमरीकी विश्वविद्यालयों में दो विश्वयुद्धो के अंतराल में यह समझा जाता था कि समाजशास्त्र और मार्क्सवाद एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्न है और इन दोनो के मिल सकने की सभावनाएँ बहुत कम है।

यह पहले इंगित किया जा चुका है कि कैसे भारतीय विद्वानों ने ब्रिटेन तथा

अमेरिका में समाजशास्त्र और सामाजिक नृशास्त्र के दुर्भाग्यपूर्ण अन्तर को विरासत में प्राप्त किया। यह तर्क दिया जा सकता है कि, एक सीमा तक, भारत में व्याप्त समाजशास्त्र तथा मार्क्सवाद का विभाजन इसी विरासत का एक दुर्भाग्य-पूर्ण सह-उत्पाद है।

कुल मिलाकर यूरोपीय समाजशास्त्र मार्क्सवाद के कहीं अधिक अनुकूल रहा है, और हाल के दिनों में आंग्ल-अमेरिकी समाजशास्त्रियों के मन में मार्क्सवाद के प्रति रुचि में वृद्धि कम-से-कम अंशतः इस बात से उपजी है कि उन मार्क्सवादी ग्रंथों के अंग्रेजी अनुवाद अब अपेक्षाकृत पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं जो मूलतः फ्रांसीसी, जर्मन, पोलिश में लिखे गये थे। मार्क्सवाद की उसी तरह समाजशास्त्र की चर्चा करते समय हमें विशिष्ट राष्ट्रीय बौद्धिक परम्पराओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। मार्क्सवाद यूरोपीय देशों के बौद्धिक विवादों में ब्रिटेन और अमेरिका की तुलना में कहीं अधिक गहरा रचा-बसा रहा है तथा यूरोपीय चिन्तक अपनी बौद्धिक विरासत के विशिष्ट लक्षणों के प्रति काफी आत्म-चेतन (self-conscious) रहे हैं।

भारत में हम लोगों में इस बात की अवहेलना करने की प्रवृत्ति है कि यूरोप में मार्क्सवाद तथा समाजशास्त्र का घनिष्ठ नाता रहा है, भले ही यह नाता लगाव का हो या विरोध का। इन दो के बीच अनेक संवादों का अच्छा उदाहरण फ्रांस प्रस्तुत करता है—कुछ अपनी विशिष्ट बौद्धिक परंपरा के कारण और कुछ इस-लिए कि अनेक यूरोपीय विद्वानों का "घर" वह रहा है।

"कार्ल मार्क्स का समाजशास्त्र" शीर्षक से लिखे एक लंबे अध्याय में, यूरोप के एक अग्रणी समाजशास्त्री जॉर्जेस गुर्विच ने लिखा, "इस अध्याय का उद्देश्य . . . यह है कि मार्क्स समाजशास्त्र के सभी संस्थापकों में महानतम और सबसे कम कठमुल्ला था।"[1] शास्त्रीय समाज-वैज्ञानिकों का ध्यान युवा मार्क्स के लेखन की ओर खींचने और स्वयं अपने लेखन द्वारा द्वन्द्वात्मक समाजशास्त्र के सृजन के लिए गुर्विच ने काफी कुछ किया। पेरिस विश्वविद्यालय में गुर्विच के सहकर्मी प्रोफेसर रेमों आरों भी अपने पूरे कार्यकाल मार्क्स के विचारों से जूझते रहे हैं पर एक दूसरी भावना से। उनका प्रयत्न यह रहा है कि मार्क्सवाद की हठधर्मिता को उद्-घाटित किया जाय और इसकी जड़ें स्वयं मार्क्स के लेखन तक खोजी जाएँ।[2]

मार्क्स के प्रति गुर्विच के सक्रिय उत्साह और आरों की इसी के तुल्य सक्रिय आलोचना के बीच बहुत-सी स्थितियाँ संभव हैं। इनमें से एक प्रोफेसर लेवी-स्ट्रॉस

[1] Georges Gurvitch, *La Vocation actuelle de la Sociologie*, Presses Universitaires de France, 1963, Vol. II, p. 220.

[2] Raymond Aron, *The Opium of the Intellectuals*, Secker and Warburg, 1957; also his *Main Currents in Sociological Thought*, Penguin, 1968, Vol. 1.

की है जिन्होने लिखा : "जब मैं सत्रह साल का था मुझे एक युवा बेल्जियाई समाजवादी ने, जिससे मेरी भेंट छुट्टियो मे हुई थी, मार्क्सवाद मे दीक्षित किया ·· मार्क्स को पढना मेरे लिए इसलिए और भी आह्लादक था क्योंकि मैं उस महान् चिन्तक के जरिए उस दार्शनिक धारा से पहला संपर्क कर रहा था जो कान्ट से हीगल तक पहुँचती है। मेरे सामने एक पूरी नयी दुनिया उजागर हो रही थी। मेरी यह उत्तेजना कभी शिथिल नही पड़ी : और अब ऐसा कम ही होता है जब मैं समाजशास्त्र या नृशास्त्र की किसी समस्या को सुलझाते समय अपनी चिन्तन प्रक्रिया को गति देने के लिए *18 ब्रुमेयर ऑफ लुई बोनापार्ट* (*18 Brumaire of Louis Bonaparte*) या *क्रिटीक ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमी* (*Critique of Political Economy*) के एक-दो पन्ने न पढ़ता हूँ।"[3]

तथापि जब लेवी-स्त्रॉस ने फ्रांसीसी समाजशास्त्र पर एक सारगर्भित, तेजस्वी तथा पाडित्यपूर्ण लेख लिखा तो उन्होने एक बार भी मार्क्स या उनके किसी बुनियादी विचार का उल्लेख करने की जरूरत नही समझी ? क्यो इतने सारे लोग स्वत. प्रेरणा से मार्क्सवाद से मानो मन्त्रमुग्ध होते हैं ? क्यो इतने सारे ही दूसरे लोग इतने ही तर्कहीन ढंग से इससे प्रतिकर्षित होते है ? ये सिर्फ अमूर्त्त या व्यर्थ प्रश्न नही हैं बल्कि यदि हमे भारत मे मार्क्सवाद और समाजशास्त्र के सबध को समझना है तो इन पर निरन्तर विचार करते रहना होगा।

आने वाले वर्षों में भारत में समाजशास्त्र और मार्क्सवाद के बीच किस तरह के सबंध की अपेक्षा की जा सकती है ? इन दोनों के बीच किसी सार्थक, प्रभावशाली या गभीर बहस के अभाव मे यह अनिवार्य हो जाता है कि पहले समस्या का निरूपण नियमानुकूल शब्दावली मे किया जाय। ऐसा जान पड़ता है कि मार्क्सवाद और समाजशास्त्र के संबंध को तीन दृष्टिकोणो से निरूपित किया जा सकता है। पहला यह कि मार्क्सवाद वह बुनियादी ढाँचा सुलभ करता है जो अपनी मौलिक प्रकृति गँवाये विना समाजशास्त्र के सफल निष्कर्षों को ग्रहण कर सकता है। दूसरा यह कि समाजशास्त्र वह मूलभूत अनुशासन है जिसको अपने विकास के लिए मार्क्स तथा उनके अन्य सृजनशील अनुयायियो के अनुभवसिद्ध विचारो को समाविष्ट करना होगा; यह मेरा अपना दृष्टिकोण है। तथापि एक तीसरा दृष्टिकोण भी है जो मार्क्सवादी समाजशास्त्र की संभावना मात्र को ही नकारता है और इस हठ पर डटा रहता है कि मार्क्सवाद तथा समाजशास्त्र स्वभावतः ही परस्पर विरोधी हैं।

[3] Claude Lèvi-Strauss, *Trister Tropiques* (English tr.), Atheneum, 1963, p. 61.

[4] Claude Lèvi-Strauss, 'French Sociology' in G. Gurvitch and W. E. Moore (eds.), *Twentieth Century Sociology*, The Philosophical Library, 1945.

पहले दृष्टिकोण की सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति समसामयिक सोवियत समाजशास्त्रियों के लेखन मे मिलती है। जैसा कि सर्वविदित है, सोवियत संघ मे पहले "बूर्जुआ" समाजशास्त्र और फिर विशुद्ध और सीधा-सादा समाजशास्त्र भी स्तालिन के काल में संदिग्ध बन गया था। यह विषय अब पुनर्जीवित हुआ है और पचास के दशक के मध्य से सोवियत समाजशास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते रहे है और वे अपने कृतित्व को, अंग्रेजी अनुवादों के माध्यम से, उत्तरोत्तर बढते परिमाण में बाहरी जगत के लिए सुलभ भी कराते रहे हैं।[5]

सोवियत समाजशास्त्री मार्क्सवादी और बूर्जुआ समाजशास्त्र मे अन्तर बनाये रखते है। ओसिपोव ने ऐतिहासिक भौतिकवाद, सामाजिक दर्शन तथा समाजशास्त्र के बीच संबंध को दो टूक शब्दो मे स्पष्ट किया है। "एक विज्ञान के रूप मे ऐतिहासिक भौतिकवाद का सरोकार उन सामान्य नियमो से है जो सामाजिक-आर्थिक सरचनाओ के आविर्भाव, विकास और परिवर्तन को शासित करते है।"[6] सामाजिक दर्शन की विषय-सामग्री है : "सामाजिक जीवन मे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियमो (चैतन्य और अस्तित्व, संख्यात्मक से गुणात्मक परिवर्तनो की ओर सक्रमण आदि) का सुनिश्चित रूप से प्रकट होना तथा आधुनिक सामाजिक विकास के आलोक में नये द्वन्द्वात्मक आयामो का उद्घाटन।"[7] एक विशिष्ट सामाजिक विज्ञान के रूप मे समाजशास्त्र को कही अधिक सीमित भूमिका सौंपी गयी है। समाजशास्त्री "समाज की सामाजिक संरचना (अन्तर्वर्गीय तथा वर्गान्तरीय सबंध, इनको नियमित करने वाले सामाजिक सगठन), समाज के अन्तर्गत विद्यमान व्यवस्थाओ तथा संगठनों के विकास तथा अन्तर्क्रिया का अध्ययन करते है।"[8]

अधिक स्पष्ट शब्दों में, सोवियत समाजशास्त्रियो का अध्ययन व्यावसायिक स्तरो तथा नृवंशीय (ethnic) समूहो पर केन्द्रित रहा है। इसके अलावा उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक तर्कसंगत तथा धर्म-निरपेक्ष समाज-व्यवस्था के व्यापक सदर्भ मे काम के प्रति रुझान तथा आनुष्ठानिक जीवन का अध्ययन भी किया है। इन अध्ययनो में गवेषणा की उन्ही पद्धतियो एव उन्ही वर्णन-प्रणालियो का उपयोग किया गया है जिन्हे दुनिया के अन्य देशों मे समाजशास्त्री सामान्यत. काम मे लाते है।

सोवियत समाजशास्त्र की दो विशेषताएँ ऐसी है जिन पर टिप्पणी की जरूरत है। इनमे पहली विशेषता बूर्जुआ तथा मार्क्सवादी समाजशास्त्र के बीच अंतर के प्रति व्यवाहारिक मनोवृत्ति की है—इस अतर पर सैद्धान्तिक रूप से तो जोर

[5] For a brief survey of Soviet Sociology see Alex Simirenko, *Soviet Sociology*, Routledge and Kegan Paul, 1967.

[6] G. Osipov, *Sociology*, Progress Publishers, 1969, p 9.

[7] Ibid, p. 9. [8] Ibid, p. 20

दिया जाता है किन्तु व्यवहार मे इसकी अवहेलना की जाती है। दूसरी, कही अधिक महत्वपूर्ण विशेषता "नीव" तथा "शीर्षस्थ निर्माण" के संबंध के प्रति नयी दृष्टि है। सोवियत समाजशास्त्रियों ने उत्तरोत्तर यह तर्क देना शुरू कर दिया है कि सामाजिक जीवन के अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जो इनमे से किसी भी विशेषता के क्षेत्र में पूरी तरह नही आते तथा जिन्हें "शीर्षस्थ निर्माण से भी ऊपर" (extra-superstructural) ही कहा जा सकता है। अल्फान्स्येव के अनुसार, इस श्रेणी में गोत्र, कबीला, राष्ट्रीय समूह, परिवार तथा विवाह और कुछ सार्वजनिक संगठन जैसी सामाजिक-आर्थिक संरचनाएँ शामिल हैं।[9] सामाजिक सत्य को निरूपित करने के इस ढंग को मार्क्सवाद के पथ से भटकना माना जाय या नही इसका फैसला मैं विशेषज्ञो पर छोडता हूँ।

जो दूसरी अवस्थिति मार्क्स के विचारो को समाजशास्त्र के "भीतर" महत्वपूर्ण स्थान देती है, वह वेबर तथा मानहीम से होते हुए आरो तक यूरोपीय विद्वानों की एक लम्बी पंक्ति की कृतियो को शासित करती रही है। इन लेखकों ने सामाजिक जीवन को समझने के लिए मार्क्स के अद्वितीय योगदान के प्रति तो आभार स्वीकार किया है पर इस योगदान का मूल्यांकन आलोचनात्मक दृष्टि से किया है जिसके परिणामस्वरूप—और मेरे मत मे गलत—प्राय. इनका चित्रण मार्क्सविरोधी के रूप मे किया जाता है। वेबर के बारे मे यह कहा गया है कि उनका कृतित्व "मार्क्स के प्रेत के साथ एक लम्बा सवाद है" और मानहीम के कृतित्व को "बूर्जुआ मार्क्सवाद" की संज्ञा दी गयी है।

मेरी दृष्टि मे, समाजशास्त्र का काम विचारो और हितो या किसी समाज की बुनियादी सास्कृतिक श्रेणियो और उसमे सत्ता के वितरण के बीच द्वन्द्वात्मक सबंध का अध्ययन है।[10] यह स्वीकार कर लेना कठिन है कि किसी एक ऐतिहासिक व्यक्ति (या व्यक्तियो के समूह जिसकी निष्ठा किसी विशेष कृतित्व-समूह से प्रतिवद्ध हो) को ही इस काम को पूरा करने का श्रेय दिया जा सकता है। इस शताब्दी में जिनके समाजशास्त्रियो ने लिखा है उनमें संभवत: वेबर का कार्य इस बुनियादी दिलचस्पी का सर्वोत्तम उदाहरण है। उनका सरोकार सस्कृति और शक्ति के अमूर्त अध्ययन से उतना नही था जितना सचमुच विद्यमान समाजों की सस्कृति और शक्ति की प्रकृति और उनके अन्तर्मबंधों से अन्य समाजशास्त्रियो की कृतियो में भी बिल्कुल यही मूलभूत दिलचस्पी दृष्टिगत होती है यद्यपि व्यवहार में उनमे से अधिकतर ने विशिष्ट

[9] V. G Afanasyev, *The Scientific Management of Society*, Progress Publishers, 1971, pp. 26–7.

[10] See my 'Ideas and Interests' in André Béteille, *Studies in Agrarian Social Structure*, Oxford University Press, 1973· also Andre; Béteille, 'The Politics of "Non-Antagonistic" Strata', *Contributions to Indian Sociology*, New Series, No. III, 1969.

मानव समाजों के किसी एक पहलू पर ही जोर दिया है।

निश्चय ही विचारों और हितों मे संबंध के प्रति मूलभूत दिलचस्पी की जड़ें मार्क्स के कृतित्व तक ढूंढी जा सकती हैं और वास्तव मे यही बात मार्क्स और आधुनिक समाजशास्त्र के बीच निरन्तरता बनाये रखती है। तथापि विचारों की जीवन्त व्यवस्था में ही निरन्तरता की खोज करना सार्थक होता है। अत. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के निर्माण में मार्क्स का योगदान तभी अर्थवान् होगा जब हम उनके सिद्धान्तो को अन्तिम तथा उनकी अवधारणाओ को अचल न मान लें और इस बात को स्वीकार करें कि उनकी विधि मे भी अनुभव के आलोक मे सशोधन की गुंजाइश है।

हमारे दृष्टिकोण से जो बात पहले याद रखने की है वह यह कि मार्क्स ने मूलत विशेष समाजों के बारे मे लिखा था—जर्मनी के, फ्रास के और इग्लैड के—और एक खास सामाजिक परिवर्तन के बारे मे। जो एशियाई समाज आज मार्क्स के समय से सौ साल बाद संक्रमण की स्थिति मे हैं उनका जीवन्त एव चेतन रहने का अपना विशिष्ट ढंग है। हम इन्हें हृदयगम करने की आशा नही कर सकते यदि हम धर्मशास्त्रियों की भाँति किसी विशेष ग्रंथ मे निहित सिद्धान्तो, अवधारणाओ एवं पद्धतियो से ही हठपूर्वक चिपके रहे।

अंत मे हम तीसरी स्थिति तक पहुँचते है जिसके अनुसार मार्क्सवाद और समाजशास्त्र में अपनी-अपनी विशेष प्रकृति के कारण सामंजस्य नही हो सकता। शायद भारत में अधिकांश सक्रिय मार्क्सवादियों और शास्त्रीय समाज-वैज्ञानिको की यही मान्यता है, हालाँकि मेरी जानकारी मे किसी ने भी ऐसा निरूपण स्पष्टतः नही किया है। इस दृष्टिकोण की भारतीय अभिव्यक्ति रोचक होगी, ताकि हम जान सकें कि इसके पक्ष मे कोई नये तर्क है या उन्ही यूरोपीय चितको की ही दलीलें है।

यूरोपीय विद्वानों मे से जॉर्ज ल्यूकाक्स तथा उसके अनुयायियो ने मार्क्सवादी समाजशास्त्र की संभावना को ही नकारने वाले दृष्टिकोण को सबसे ओजस्वी ढग से अभिव्यक्त किया है। दिलचस्प बात तो यह है कि यूरोप मे मार्क्सवादी ही इस सभावना को नकारते हैं कि मार्क्सवाद और समाजशास्त्र के बीच कोई प्रभावशाली सवाद हो सकता है, जबकि समाजशास्त्री इस सवाद के अधिक इच्छुक है। इसके विपरीत, भारत में समाजशास्त्री और मार्क्सवादी दोनो ही एक-दूसरे को कमोवेश बराबर शक की नजर मे देखते है।

लुसिएँ गोल्डमॉं ने, जिनके कृतित्व का यूरोपीय मार्क्सवादी आदर करते है, *ल दियू काशे* मे लिखा है कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार "समाजशास्त्र असभव है क्योंकि मार्क्सवादी व्यावहारिक और क्रांतिकारी होना चाहता है।"[11]

[11] Lucien Goldmann, *Le Dieu caché*, Gallimard, 1955, p. 98.

वाद में इसी विचार को उन्होंने "यॉतील यून सोसियोलॉजी मार्क्सीस्त ?"[12] नामक लेख में दोहराते हुए तर्क दिया कि मार्क्सवादी समाजशास्त्र असंभव है। ल्यूकाक्स और गोल्डमां दोनों ही "तथ्य-विषयक निर्णय" को "मूल्य-विषयक निर्णय" से अलग करने के प्रयास को क्रांतिकारी अभ्यास को नकारने के रूप में अस्वीकार करते हैं। उनके लिए मार्क्सवाद का सार यही अभ्यास है जो सिद्धान्त और कर्म की बुनियादी एकता पर आधारित है और इसकी अभिव्यक्ति है। वे तर्क देते हैं कि समाजशास्त्र अपनी प्रकृति से मार्क्सविरोधी है जहाँ तक वह तथ्यों को मूल्यों से अलग करने की चेष्टा करता है और अपने कार्यक्षेत्र को क्रांतिकारी अभ्यास से अलग रखकर परिभाषित करता है।

ल्यूकाक्स की स्थिति और भी स्पष्ट शब्दों में व्यक्त की जा सकती है।[13] विचारों की हर पद्धति का एक वर्ग-आधार होता है। समाजशास्त्र का आधार है बुर्जुआ के वर्ग-हित और इस सीमा तक वह "ऐतिहासिक" है। मार्क्सवाद की जड़ें सर्वहारा के वर्ग-हित में जमी हैं; वह ऐतिहासिक नहीं, सार्वभौम (universal) है क्योंकि आधुनिक विश्व में इतिहास का असली विषय सर्वहारा ही है। यहाँ भारतीय समाजशास्त्री यह प्रश्न पूछना जरूरी समझेगा कि सर्वहारा या भारतीय इतिहास का असली विषय कौन है ? संगठित सर्वहारा का विपन्न मानवता (underprivileged humanity) से जो सीधा समीकरण यूरोपीय मार्क्सवाद में अन्तर्निहित है वह भारतीय संदर्भ में असत्य भी है और भ्रामक भी।

भारत में भी, और जगहों की तरह ही, क्यों मार्क्सवादियों और समाजशास्त्रियों के बीच परस्पर बैर और सन्देह की इतनी विस्तृत खाई है ? मैं एक पल के लिए भी यह नहीं मानता कि इसे सिर्फ चाह लेने भर से समाप्त किया जा सकता है। किन्तु निश्चय ही एक प्रभावशाली संवाद मतभेद के क्षेत्र को परिसीमित करने में और इसकी प्रकृति और स्रोतों को पहचानने में सहायक होगा। ऐसा प्रभावशाली संवाद वही हो सकता है जो भारतीय अनुभव से, विशेषतः भारत के सेतिहर सामाजिक ढाँचे से, जुड़ा हो।

परस्पर बैर अक्सर हमारे मन में बैर के पात्र की विकृत छवि के कारण बना रहता है। यह सर्वविदित है कि मार्क्सवाद के संस्थापक के मन में समाजशास्त्र के संस्थापक के प्रति बड़े तिरस्कार का भाव था। मार्क्स ने एक पत्र में लिखा है—"दल के सदस्य के रूप में मेरे मन में कॉम्त (Comte) के दर्शन के प्रति पूर्णतया शत्रुता का भाव है जबकि एक वैज्ञानिक व्यक्ति के रूप में मैं इसे बहुत घटिया

[12] Lucien Goldmann, 'Y a t-il une sociologie marxiste ?' *Les Temps modernes* No. 140, October 1957.

[13] Georg Lukacs, *Histoire et Conscience de Classe*, Les Editions de Minuit, 1960.

समझता हूँ।"[14] अब कॉम्त ने न केवल "समाजशास्त्र" शब्द का आविष्कार किया बल्कि मार्क्स के समय मे यूरोप मे यह विषय उनकी प्रत्यक्षवादी दर्शन प्रणाली के समरूप ही माना जाता था। गुर्विच की यह टिप्पणी कि मार्क्स समाजवाद के संस्थापकों में सबसे कम हठधर्मी थे तब स्पष्ट होती है जब हम यह स्मरण करते है कि इसका दूसरा प्रमुख संस्थापक कॉम्त न केवल हठधर्मी था बल्कि अपने अंतिम वर्षों में एक सनकी व्यक्ति था। किन्तु समकालीन समाजशास्त्र—बल्कि दुर्खीम और वेबर का समाजशास्त्र भी—उस एक प्रकार से असगत व्यवस्था से बिल्कुल मेल नही खाता जिसका निर्माण उस व्यक्ति ने किया जिसने प्रत्यक्षवाद तथा समाजशास्त्र दोनों ही का नामकरण किया।

जिन्हे इतिहास के सयोग समझा जा सकता है उनके अलावा अन्य विषय भी विचारणीय है। यह एक अनुभव की वस्तु है कि दो विचार-प्रणालियो के प्रवर्तक एक-दूसरे के प्रति अधिकतम असहिष्णु तब नही होते जब उनके विचार पूर्णतया भिन्न हों वरन् तब होते हैं जबकि अधिकाश मे दोनो के विचार मूलत एक जैसे हो। वास्तविक सामाजिक संबधों के जगत् की भाँति ही वैचारिक जगत् मे भी—यदि हम मानवविज्ञानियो द्वारा प्रयुक्त वाक्याश का प्रयोग करे—एक प्रकार की "सहोदर प्रतिस्पर्द्धा" (sibling rivalry) होती है। यह विचारणीय है कि मार्क्सवादियो और समाजशास्त्रियो की परस्पर असहिष्णुता के लिए उनकी परियोजनाओं की मूलभूत एकरूपता ही जिम्मेदार है न कि कोई मूलभूत अंतर।

मार्क्सवाद और समाजवाद दोनो ही अपना सरोकार वर्तमान समय में विश्व में समाज के एक सदस्य के रूप में मनुष्य के समग्र अनुभव से रखते हैं। अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र समाज के विशिष्ट क्षेत्रों से वास्ता रखते है और इतिहास का संबध वर्तमान से नहीं बल्कि अतीत से है। इतिहासकार अतीत मे शरण ढूंढ सकता है और अर्थशास्त्री तकनीकी क्षमता के अपने क्षेत्र में। यह देख सकना कठिन है कि समाजशास्त्री कैसे अपनी ही पसंद के क्षेत्र मे भी मार्क्सवादी से भिड़ने से बच सकता है।

यह कोई सयोग मात्र नही कि मार्क्सवादी समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र को सीमित-संकुचित करके ही उसके लिए जगह ढूंढ सकते हैं। उदाहरणतः सार्त्र समाजशास्त्र को एक "सहायक विद्या विशेष" के रूप मे स्वीकार करने के लिए तैयार है पर उनकी पसद एक बहुत ख़ास किस्म के समाजशास्त्र की है: "समाजशास्त्र को जितना अधिक अति-अनुभवभारिता (hyper-empiricism) के

[14] Marx to Beesly in a letter dated 12 June 1871; see Karl Marx and Friedrich Engels, *Correspondence, 1846–1895*, National Book Agency, 1945, p. 277.

रूप मे प्रस्तुत किया जायेगा उतना ही आसान इसे मार्क्सवाद मे समेकीकृत करना होगा।"[15] इसी तरह मेरे अनुभव में भारतीय मार्क्सवादी भी तभी तक समाजशास्त्र को सहन करने के लिए तैयार रहते है जब तक यह विषय अपने को शीर्षस्थ निर्माण (super-structure) की समस्याओं तक सीमित रखे। यह कहने की विल्कुल आवश्यकता नही कि समाजशास्त्री समाज-विज्ञान पर लगायी गयी इस मनमानी सीमारेखा को मानने को विवश नही हैं।

सार्त्र जैसे दार्शनिक छिछले अनुभववाद के लिए समाजशास्त्र की कटु आलोचना करते रहे हैं—और इस बात के लिए कि इसके न अपने नियम हैं न सिद्धान्त। मेरे विचार मे यह कहना उचित ही है कि अपने जन्म से ही समाजशास्त्र एक सामान्य सिद्धान्त की तलाश मे रहा है जिसे वह वास्तव मे अब तक नही प्राप्त कर पाया है। समय-समय पर विभिन्न सिद्धान्तो का आविर्भाव होता रहा है, जैसे क्रिया का सामान्य सिद्धान्त, प्रतीकात्मक अन्तर्क्रिया का सिद्धान्त, संघर्ष-सिद्धान्त, किन्तु जिसे प्राकृतिक विज्ञानों मे या अर्थशास्त्र जैसे विज्ञान मे भी "सिद्धान्त" स्वीकार किया जाता है उसके अनुरूप वास्तव में इनमे मे कोई भी नही है।

मार्क्स के पास भी पश्चिमी यूरोपीय समाज मे पूँजीवाद के विकास और ह्रास के बारे में एक सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त मे अनेक भविष्यवाणियाँ निहित थीं जो सच नही साबित हुई है। मैं लूकाक्स के साथ इस विषय पर सहमत होने को तैयार हूँ कि कोई भी व्यक्ति मार्क्सवाद को त्यागने के लिए सिर्फ इसलिए विवश नही होना चाहिए क्योकि मार्क्स के शोध के अधिकांश "परिणाम" बाद की घटनाओ या परवर्ती शोध के कारण पुराने पड़ गये है।[16] वास्तव मे जो बात महत्त्वपूर्ण है वह है मार्क्स द्वारा विकसित सामाजिक यथार्थ के अध्ययन की पद्धति अथवा अभिगम।

इसके अतिरिक्त, मेरी समझ मे यह नही आता कि क्यो कोई भी व्यक्ति "समग्रकारी सिद्धान्त" और "छिछले अनुभववाद" मे से एक को चुनने को विवश हो। इस तरह का द्विभाजन शायद दार्शनिको के मिजाज व शैली के अनुकूल हो पर यह उन लोगों को संतुष्ट नही कर सकता जिनमें निजी सिद्धान्त-निर्माण की क्षमता और आत्म-विश्वास न होने पर भी वे गंभीरता से सामाजिक यथार्थ को समझना चाहते है। यदि ऐसा सिद्धान्त अभी तक सुलभ नही और न ही हर व्यक्ति ऐसा सिद्धान्त गढने में सक्षम है तब वह आम आदमी क्या करे जिसकी मानव समाजों को समझने में गभीर रुचि भी है?

"समग्रकारी सिद्धान्त" और "छिछले अनुभववाद" के बीच गहरा द्वैध न केवल अनुचित है बल्कि हानिकर भी है। जो लोग ऐसा मानते हैं कि उनके पास ऐसा सिद्धान्त है उनमे "केवल मात्र तथ्य-संग्रह" के प्रति तिरस्कार के भाव को

[15] Jean-Paul Sartre, *The Problem of Method*, Methuen and Co., 1963, p. 82.
[16] Lukács, *Histoire et Conscience de Classe*, op cit.

प्रोत्साहन मिलता है। जान पड़ता है कि अनेक भारतीय मार्क्सवादियों का विश्वास है कि वे इस समाज की बुनियादी विशेषताओं को जानते है और उन यांत्रिक प्रक्रियाओं को भी जिनसे यह समाज "सामन्तवाद" से "पूंजीवाद" में बदल रहा है और आने वाले वर्षों मे इसका क्या रूप होगा। वे यह जरूरी नही समझते कि चीन और रूस के मार्क्सवादियो की भाँति उन्हे भी ग्रामीण समाज विषयक तथ्यों का विस्तार से अध्ययन करना चाहिए। यही मुख्य कारण है कि मार्क्सवादी हमें भारतीय समाज की "वास्तविक" विशेषताओं के बारे मे इतना कम बता पाते हैं—उन विशेषताओ की तुलना मे जो उनके सिद्धान्तों मे वर्णित हैं।

यह मनोवृत्ति कि पहले अपने सिद्धान्त को सही सिद्ध करके, तब तथ्यो की ओर ध्यान देना चाहिये प्रायः सचाई से बचने का बहाना मात्र है। इसे मार्क्सवादियो और शास्त्रीय समाजवैज्ञानिको दोनो मे देखा जा सकता है। यह सचाई से बचने की मनोवृत्ति है क्योकि या तो सही सिद्धान्त का कभी पता ही नही लगता या वह शुरू से ही उपलब्ध होता है और तब तथ्यों के सकलन से कोई अन्तर पड़ने की आशा नही होती।

निश्चय ही मार्क्स के कृतित्व मे समाज के अध्ययन की विधि के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है, यद्यपि कुछ लोग यह मानते है कि इसका यही पक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह बिन कहे स्पष्ट है कि हम यहाँ समाज के अध्ययन के लिए मार्क्स की विधि—समाजों के निर्माण के बारे में उसके विचारों, उनके अन्तर्निहित विरोधाभासो और उनमे उपजने वाले परिवर्तनो—की ही चर्चा कर रहे हैं।

समाज के अध्ययन के लिए सही मार्क्सवादी विधि के बारे मे विशेषज्ञों के बीच सहमति का पता लगाना आसान नही। मार्क्स द्वारा लिखित अनेक अंश ऐसे हैं जिन्हे एक-दूसरे के साथ समन्वित नही किया जा सकता और उनमें से प्रत्येक की व्याख्या कई तरह से की जा सकती है। संभवत. सबसे स्पष्ट अंश उनकी प्रसिद्ध "भूमिका" का है जो इस कथन से आरम्भ होती है : "अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन मे मनुष्य ऐसे निश्चित संबध स्थापित करते हैं जो अपरिहार्य है और उनकी स्वेच्छा पर निर्भर नही होते" और जो इन शब्दो से समाप्त होती है : "उत्पादन के बूर्जुआ संबध उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के अंतिम परस्पर-विरोधी स्वरूप हैं . . .।"[17] इस पाठ्यांश का महत्त्व इस कारण और अधिक है है क्योकि स्वयं मार्क्स के अनुसार यही उस क्रियाविधि की ओर इंगित करता है जिस तक वे वर्षों के अध्ययन-चिन्तन के बाद पहुँचे थे।

[17] Karl Marx, 'Preface' to *A Contribution to the Critique of Political Economy*, in K. Marx and F Engels, *Selected Works*, Foreign Languages Publishing House, 1951, Vol. I, pp. 328–9.

उपरोक्त पाठ मे तीन प्रकार के कथन हैं। प्रथम, इसमें सामाजिक संरचना के विषय में कथन है, जिनमें सामाजिक संरचना को मूल संरचना और शीर्षस्थ संरचना मे भिन्नित किया गया है। द्वितीय, इसमें मूलगत अन्तर्विरोधों के बारे में एवं मूल तथा शीर्षस्थ रचना मे अन्तर्विरोधो के बारे मे कथन हैं, तथा ऐसे अन्तर्विरोधों के बारे मे कथन है जो सामाजिक संघर्ष मे प्रकट होते हैं। अन्त मे सामाजिक परिवर्तन के विषय मे बताया गया है तथा उन चरणों का विशद उल्लेख किया गया है जिनमे होकर समाजों का रूपान्तरण होता है। इस संक्षिप्त-सटीक-सारगर्भित पाठ मे ये टिप्पणियाँ कसकर गूँथ दी गयी हैं तथा ये किसी भी पूर्ववर्ती या परवर्ती समाजशास्त्री की तद्विषयक कृति से संभवत अधिक प्रभावकारी हैं।

पहला वाक्य ही उन उद्देश्यो को परिभाषित करता है जिन्हे मैं मार्क्स के समाजशास्त्रीय उद्देश्य कहूँगा। "अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन" वाक्यांश के ठीक-ठीक अर्थ समझने मे तो किसी को भले ही परेशानी हो, किन्तु इस कथन मे कि "मनुष्य ऐसे निश्चित संबध स्थापित करते हैं जो अपरिहार्य हैं और उनकी स्वेच्छा पर निर्भर नही" में भ्रम की कोई गुंजाइश तो है ही नही बल्कि इसे हर प्रकार के समाजशास्त्रीय विश्लेषण का आरंभ-बिन्दु माना जाना चाहिए। शास्त्रीय समाजवैज्ञानिक इस बात पर ध्यान दिये बिना नही रह सकते कि यह कथन दुर्खीम की उस प्रसिद्ध स्थापना का पूर्वानुमान है जिसमे यह कहा गया है कि सामाजिक तथ्य वस्तुएँ हैं और वस्तु होने के कारण वे बाह्यरूपता और परिसीमाओं द्वारा चित्रित होते हैं।[11]

आधार (अर्थात् "उत्पादन के संबंधो का कुल योग" जो "समाज की आर्थिक संरचना" का निर्माण करते हैं) और शीर्षस्थ रचना के बीच का अतर भी मूल्यवान् है बशर्ते कि इसे स्वत:-शोध की एक विधि माना जाय न कि एक निर्विवाद सिद्धान्त। यह सोचना गलत है कि सामान्यतः समाजशास्त्री सभी सामाजिक संरचनाओं को बराबर महत्त्वपूर्ण समझते हैं। इनमे से अधिकांश जिस प्रश्न को उठाते हैं वह यह है कि क्या आधार और शीर्ष-रचना का अतर ऐसा है जो एक ही बार मे हमेशा-हमेशा के लिए निश्चित किया जा सकता है। इसके अलावा इनमें से अनेक समाज की आर्थिक सरचना को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं।

आधारगत अन्तर्विरोध एवं आधार तथा शीर्ष-रचना में अन्तर्विरोध व्यक्तियो और समूहों के बीच हितों के संघर्ष मे प्रतिबिम्बित होते हैं। मेरी समझ मे समाजशास्त्र को मार्क्स का सबसे मौलिक और सफल योगदान यही विचार है कि हित एवं उनका संघर्ष सामाजिक रूप से सरचित होते हैं। वर्गों और वर्ग-संघर्ष के

[11] Emile Durkheim, *The Rules of Sociological Method*, The Free Press, 1938.

अध्ययन का मूल हितों के एक ऐसे समाजशास्त्र में है जिसकी नींव डालने में मार्क्स की भूमिका किसी भी और व्यक्ति से अधिक रही है। स्वयं मार्क्स ने न केवल वर्ग-संघर्ष की बल्कि श्रम-विभाजन की भी जड़ें हितों की संरचना में देखी थी।

मार्क्स का तर्क था कि जिन आदर्शों और मूल्यों को सर्वव्यापी कहकर प्रचारित किया जाता है वे अक्सर ऐसे मुखौटे होते है जो किसी एक वर्ग विशेष के हितों को छुपाये हैं। यह मुखौटा हमेशा जान-बूझकर नही पहना जाता, पर इसका यह अर्थ नही कि मुखौटे यहाँ हैं ही नही। "अठारहवी ब्रूमेयर" मे उन्होने दिखाया कि सिर्फ *वर्ग के ही नहीं, नौकरशाही जैसी संस्थाओं के भी "वस्तुनिष्ठ" हित हो सकते है।*

हितों के अध्ययन मे महत्त्वपूर्ण कदम यह है कि व्यक्ति के परे जाकर यह देखा जाय कि हितों की सामाजिक संरचना क्या है। "ऐसा कैसे होता है कि व्यक्तिगत हित, व्यक्तियों की इच्छा के प्रतिकूल, सदैव वर्ग-हितों मे तथा ऐसे सर्वसामान्य हितों मे जो अलग-अलग व्यक्तियों के सापेक्ष स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त कर लेते है, विकसित हो जाते हैं और इस स्वाधीनता मे वे सामान्य हित का रूप ले लेते है?"[19] इस तरह हितों की दोहरी भूमिका होती है—वे लोगो को वर्ग के रूप मे सगठित करते हैं और साथ ही एक वर्ग को दूसरे वर्ग से विभाजित करते हैं, भले ही इस विभाजन पर किसी विचारधारा द्वारा परदा डाला गया हो।

मार्क्स को इस बात का पता था कि यद्यपि हितों की संरचना सामाजिक होती है इनकी संरचना को पहचानने का कोई सरल मार्ग नही। इस तरह मार्क्स और मार्क्सवादियों के रवैये मे एक बुनियादी अतर है। ऐतिहासिक भौतिकवाद कार्य-व्यापार की एक सामान्य दिशा दिखा सकता है किन्तु वर्गो के मध्य सघर्ष तथा गठबंधन वास्तव में विद्यमान उन हितो से सबद्ध होने चाहिए जो प्रत्येक समाज के विकास की किसी विशेष अवस्था के लिए विशिष्ट होते है। "अठारहवी ब्रूमेयर" फ्रांस मे 19वी सदी के मध्यकाल मे विभिन्न वर्गो एव स्तरो के बीच हितों की जटिल अन्तर्क्रिया का उत्कृष्ट विश्लेषण है।

सामान्यत: भारतीय मार्क्सवादियो ने यह मान लिया है कि भारतीय समाज में हितो की एक खास संरचना व्याप्त है जबकि फ्रास और जर्मनी के विषय मे अपने लेखों में मार्क्स ने दर्शाया था कि वास्तव मे ऐसी सरचना इतनी जटिल होती है *कि पहले से ही उसकी प्रकृति निश्चित करना सभव नही।* दूसरी ओर, अकादमिक समाजशास्त्रियों ने आमतौर पर भारतीय ग्रामीण समाज के अपने अध्ययन मे हितों की सरचना की सामान्यत: उपेक्षा की है, उन्होने सर्वसामान्य मूल्यों तथा वर्ण, गोत्र, धर्म जैसी उन संस्थाओं पर जोर दिया है जो इन मूल्यों को अधिकाधिक स्पष्ट करती हैं।

[19] Karl Marx and Friedrich Engels, *The German Ideology*, Progress Publishers, 1968, p. 270.

मैंने लीच (Leach)[20] के एक तर्क के आधार पर अन्यत्र कहा है[21] कि भारतीय क्षेत्र में कार्यरत सामाजिक नृशास्त्रियों ने अपना बुनियादी ढांचा मार्क्स से नही बल्कि दुर्खीम से लिया है। परिणामस्वरूप उनके द्वारा सामाजिक जीवन के उन क्षेत्रों की उपेक्षा हुई है जिनमे संघर्षरत हितों की अन्तर्क्रिया स्पष्ट अभिव्यक्त होती है। इस सदर्भ मे पूर्ववर्ती निबंधों मे विकसित विषय महत्वपूर्ण बन जाते हैं।

भूमि का स्वामित्व, नियंत्रण तथा उपयोग उन हितों को जन्म देते हैं जिनमें विभिन्न तरीकों मे संयोजन और टकराव होता है। इन हितों की अन्तर्क्रिया को व्यक्तिगत संबंधों के स्तर पर आसानी से देखा जा सकता है—उदाहरणार्थ ज़मीदार और असामी या उत्पादक तथा श्रमजीवी मजदूर के बीच—और ऐसा रोजमर्रा देखने मे आता है। पर जिस बात के लिए समाजशास्त्री मार्क्स के ऋणी हैं वह एक पद्धति है, जिसका उपयोग भारत मे यदा-कदा ही किया गया है—एक ऐसी पद्धति जिसकी रूपरेखा इसीलिए तैयार की गयी है कि इन हितों का विधिवत् अध्ययन किया जा सके, उनमे उभरते प्रतिरूप को पहचाना जा सके और उन्हें समूहों तथा श्रेणियों की सरचना से संबद्ध किया जा सके, विशेषकर वर्गों और स्तरों के बीच की दरारों मे।

अब तक यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि क्यों मैंने इस प्रश्न पर इतना अधिक ध्यान दिया है कि कृषक समाज से हमारा क्या अभिप्राय होना चाहिये। भारतीय अध्ययन के क्षेत्र मे कृषक समाज की अवधारणा का प्रवेश रैडफील्ड के कृतित्व के माध्यम से हुआ जो स्वयं कुल मिलाकर भौतिक हितों की सघर्षशील अन्तर्क्रिया के प्रति उदासीन था। जिन्होंने इस प्रकार की प्रेरणा से ग्रामीण भारत का अध्ययन किया उन्होंने उस समाज के सामान्य सास्कृतिक लक्षणों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया जिसमे सदैव से उपस्थित गम्भीर विभेदों की उपेक्षा या अनदेखी करते हुए वे उसे भूल से कृषक समाज कहते रहे।

जिसे भारत में कृषक समुदाय कहा जाता है वह प्रायः स्वय बहुत गहरे विभाजनों से ग्रस्त है। अक्सर भारतीय ग्राम मे अन्य समूहों और श्रेणियों के अलावा श्रम न करने वाले जमींदार और भूमिहीन खेतिहर मजदूर दोनों ही रहते हैं। ऐसे गाँव का वर्णन कृषकों के समुदाय के रूप में करना सामाजिक व्यवस्था की सबसे रोचक विशेषता, अर्थात् हितों की आतरिक सरचना, के अध्ययन को सीमित करना है। अपने अध्ययन का आरंभ इस प्रकार की गवेषणा से करना वास्तविक समाजों की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता—सघर्षरत समूहों और श्रेणियों में उनके विभाजन—का उद्घाटन है।

[20] E. R. Leach, *The Political Systems of Highland Burma*, G. Bell and Sons, 1954, p. 7.

[21] Béteille, "The Politics of "Non-Antagonistic" Strata', op. cit.

जितनी भ्रामक कुछ अन्तरो की उपेक्षा है उतनी ही भ्रामक कुछ समरूपताओ की उपेक्षा भी है। धर्म एव सस्कृति पर जोर देते हुए भारतीय नृशास्त्रियो का निरंतर प्रयत्न यह रहा है कि जनजाति और खेतिहर वर्ग के बीच विभाजन-रेखा खीची जा सके। मैने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यह रेखा अधिकतर मनमानी होती है। जो लोग जमीन पर श्रम करते है उनके हित बुनियादी तौर पर समान होते है, भले ही वे बगाली बोलते हो या संथाली, हिन्दू हो या पशुपूजक। उनकी जीवन-यापन शैलियों मे अतर हो सकता है—जिनका किसी भी प्रकार अवमूल्यन नही किया जाना चाहिए—किन्तु मोटे तौर पर उनकी जीवन की सभावनाएँ समान हैं।

और अन्त में कृपको और श्रमिको की समस्या का परीक्षण हितो के समाज-शास्त्र के ढाँचे के भीतर भी किया जाना है। क्या कृपको और श्रमिको के हित मूल रूप से एक है या उनमे मूलभूत अन्तर है? इन प्रश्नो पर हमारे विचार अस्पष्ट हैं और उपलब्ध तथ्य सीमित तथा द्वयर्थक है। मैं यह नही मानता कि हमारे विचार कभी भी स्पष्ट हो सकेगे जब तक कि हम प्रत्यक्ष रूप से उन विधियों का निरीक्षण नही करते जिनके द्वारा "जनजातियाँ", "कृपक" और श्रमिक अपने वास्तविक जीवन मे अपने हितो को सगठित करते है।

वास्तविक समाजो की गतिशीलता के मार्क्स के विश्लेपणो ने हमे यह बात दर्शायी है कि जिन लोगों के हित एक दिखायी देते है वे प्रायः विभाजित होते है, इसी तरह जैसे ऐसे लोग जिनके हित भिन्न दिखायी देते है प्राय आपस मे मिल जाते है। इस तरह के अध्ययन मे मार्क्स का अनुसरण करना सहज नही क्योकि इसके लिए असाधारण अवलोकन-क्षमता और कल्पना-शक्ति की आवश्यकता है। कही अधिक आसान काम है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के कम कष्टदायक नियमो को लागू कर यह व्याख्या करना कि हमारे जटिल समाज मे क्या कुछ घट रहा है और क्या घटना चाहिए था? पर समाजशास्त्री के रूप मे मार्क्स का महत्व ऐसे नियमों के लिए नही जिनका उन्होने आविष्कार किया बल्कि मानवीय संघर्ष के सामाजिक आधार मे उनकी उस गहरी अन्तर्दृष्टि के लिए है जो मानव समाज के अध्येता के लिए शाश्वत प्रेरणा का स्रोत है।

वह मार्क्स ही थे जिन्होंने, किसी भी अन्य विचारक की तुलना में अधिक, समाजशास्त्रियो को इस बात का आभास कराया कि मानव-समाजो मे सघर्प से बचा नही जा सकता। और, किसी भी अन्य व्यक्ति से पहले, मार्क्स ने ही समाजशास्त्र को उन विचार-व्यवस्थाओं के रहस्यवादी अमूर्तनो का पर्दाफाश करने की पद्धति सुलभ कराई जिनका उद्देश्य यह दर्शाना है कि किसी भी समाज में हितों का मूलभूत सामंजस्य है। तथापि मार्क्स ने ऐसे समाजो की चर्चा भी की

जो सघर्ष और परस्पर विरोध से मुक्त है, कुछ इस प्रकार, मानो वे भविष्य के वास्तविक समाजो की चर्चा कर रहे हो। और दूसरो ने उनके तर्कों का सहारा लेकर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि कोई ऐतिहासिक अस्तित्व वाला समाज-विशेष परस्पर विरोध और सघर्ष के परे सचमुच प्रगति कर चुका है।

"भूमिका" के प्रसिद्ध अश जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, का समापन इस कथन से होता है, "उत्पादन के बुर्जआ सबध उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के अतिम परस्पर-विरोधी स्वरूप है—व्यक्तिगत विरोध के अर्थ मे परस्पर-विरोधी नही बल्कि ऐसे विरोध के अर्थ मे जो व्यक्तियो के सामाजिक जीवन की स्थितियो से उत्पन्न होता है। साथ-ही-साथ बुर्जुआ समाज के गर्भ में पल रही उत्पादक शक्तियाँ इन अन्तर्विरोधो के समाधान के लिए भौतिक परिस्थितियो को तैयार करती हैं। इसलिए यह सामाजिक सरचना मानव समाज के प्राक्-इतिहास का उपसंहार करती है।"[22] मेरे विचार मे अब यह यथेष्ट रूप से स्पष्ट हो चुका है कि मार्क्स का अभिप्राय था कि इस कथन को शब्दशः स्वीकार किया जाये। मेरा यह भी मानना है इस तरह के कथन का तालमेल समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के साथ नही बिठाया जा सकता। मै यह भी जोडना चाहूँगा कि न ही इसका तालमेल स्वय मार्क्स के सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक विचारो से बिठाया जा सकता है। मार्क्स में जो कुछ मौलिक है वह है अन्तर्विरोध और संघर्ष की उनकी समझ : अन्यथा वर्गहीन समाज की उनकी अवधारणा मे कुछ भी मौलिक नही।

"वर्ग समाजो" और "वर्गहीन समाजों" का अतर मार्क्सवादी चिन्तन की एक प्रमुख विशेषता है और इस दृष्टि से मार्क्सवाद आधुनिक समाजशास्त्र से बहुत भिन्न है। आज के समाजशास्त्रियों ने मार्क्स के काल मे व्यवस्थित जांच-पडताल के लिए उपलब्ध समाजों से कही अधिक समाजो का विस्तृत अध्ययन कर लिया है। इन अध्ययनो ने यह दर्शाया है कि विषमता और संघर्ष, तकनीकी दृष्टि से आदिम जनजातीय समाजो समेत, सभी मानव समाजो के अन्तर्निहित लक्षण है।

निश्चय ही मार्क्सवादियो द्वारा किये गये अतर को समुचित परिभाषाओं के निर्माण के बाद तर्कसंगत ढंग से बनाये रखा जा सकता है। जैसा आरो ने कहा भी है, "यदि आप वर्ग को उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व के सदर्भ मे परिभाषित करते हैं तो इससे आसान कुछ भी नही कि निजी स्वामित्व के दमन की आशा के साथ ही वर्ग को समाप्त होने दिया जाये।"[23] स्तालिन के समय से सोवियत संघ तथा अन्य पूर्वी यूरोपीय देशों मे विद्वान् अपने समाजों मे "वर्गों" के स्थान पर "स्तरों" को लाने की चर्चा करते रहे है। उनकी दृष्टि मे वर्गों के

[22] Marx and Engels, *Selected Works*, op cit., p. 329.

[23] Raymond Aron, 'Two Definitions of Class' in A. Béteille (ed.), *Social Inequality*, Penguin, 1969, p. 70

संबध परस्पर विरोधी है क्योंकि ये सम्पत्ति पर आधारित है, जबकि स्तरो के बीच संबध परस्पर विरोधी नही क्योंकि ये श्रम-विभाजन पर आधारित है।[24]

यह दावा कि उत्पादन के साधनो के नियन्त्रण के किसी विशेष वैधानिक प्रकार को समाप्त करने मात्र से किसी समाज से परस्पर-विरोध समाप्त किया जा सकता है, तर्क को निमन्त्रण देना नही अपितु तर्क से बचने का बहाना ही है। चूँकि मैं यह बात कही और कह चुका हूँ[25] अतः यहाँ विस्तार मे नही जाना चाहता। मैं सिर्फ इतना कहना चाहूँगा कि ऐसे मार्क्सवादी लेख उपलब्ध हैं जो इस तरह के दावे को प्रामाणिकता प्रदान करने को पर्याप्त हैं।

जब मार्क्स ने यह लिखा कि बूर्जुआ समाज अन्तर्विरोधो से ग्रस्त समाज का निम्नतम स्वरूप है, और इसकी समाप्ति से मानव समाजों के प्राक्इतिहास का भी अन्त हो जायेगा, तो उन्होने इस विषय मे अपने विचार सुस्थिर कर लिये थे कि किस तरह की सामाजिक व्यवस्था इसका स्थान लेगी। जिस प्रकार का समाज मानव इतिहास (प्राक्इतिहास के विपरीत) से सम्बद्ध होगा, उसका विस्तृत एवं जीवन्त वर्णन *दि जर्मन आइडियोलॉजी* में किया गया है। इस तरह के समाज मे, "किसी भी व्यक्ति का एक विशेष कार्यक्षेत्र नही होता, वरन् हर व्यक्ति इच्छानुसार किसी भी शाखा में पारगत बन सकता है। समाज सामान्य उत्पादन को नियन्त्रित करता है और इस तरह मेरे लिए यह सभव बनाता है कि मैं आज एक काम करूँ, कल दूसरा। सवेरे शिकार पर निकलूँ, दोपहर को मछली मारूँ, शाम को पशुपालन करूँ और रात्रि को भोजनोपरान्त समीक्षा, जब जैसा भी मेरा मन करे, बिना कभी भी शिकारी, मछुआ, गड़रिया या आलोचक बने।"[26] मेरे विचार मे भारत के सर्वाधिक उत्साही मार्क्सवादी भी आज यह नही कह सकेंगे कि सोवियत संघ मे इस तरह का समाज है या इसका निर्माण किया जा रहा है, हालांकि मुझे इस बात का भरोसा नही कि इनमे से कुछ चीन के बारे मे ऐसा न मानते हो।

जबकि सोवियत विद्वानों की यह मान्यता है कि उनके देश में वर्गो पर आधारित समाज का स्थान श्रम-विभाजन पर आधारित समाज ने ले लिया है, मार्क्स का विश्वास था कि बूर्जुआ समाज की समाप्ति से वर्गों का ही नही, श्रम-विभाजन का भी उन्मूलन हो जायेगा। यहाँ हम संकटाकीर्ण मार्ग मे प्रवेश कर रहे है क्योकि मैं नही समझता कि इस तरह के तर्क को चतुर से चतुर व्याख्या द्वारा भी सही सिद्ध किया जा सकता है।

यह स्पष्ट है कि मार्क्स के अनुसार विषमता, शोषण और संघर्ष के वास्तविक

[24] Béteille, "The Politics of "Non-Antagonistic" Strata', op. cit.
[25] Ibid.
[26] Marx and Engels, *The German Ideology*, op. cit., p. 45.

स्रोत वर्ग-व्यवस्था में नही वल्कि श्रम-विभाजन और अतत. स्वयं श्रम में ही निहित है। इसीलिए मार्क्स के लिए यह सोचना तर्कसगत था कि संघर्ष, शोषण तथा विषमता के उन्मूलन का एकमात्र मार्ग श्रम का ही उन्मूलन है। "श्रम-विभाजन के द्वारा व्यक्तिगत शक्तियों (सवंधों) का भौतिक शक्तियो में रूपान्तरण अपने मन से इसके सामान्य विचार को हटा देने भर से दूर नही किया जा सकता, किन्तु इसका उन्मूलन तभी किया जा सकता है जब व्यक्ति इन भौतिक शक्तियो को फिर से अपने अधीन कर लें और श्रम-विभाजन का उन्मूलन करें।"[27] और भी, श्रम तो सभी सभ्य देशो मे मुक्त है ही। प्रश्न श्रम को मुक्त करने का नहीं, उसके उन्मूलन का है।"[28]

अब निश्चय ही यह माना जा सकता है कि भविष्य मे एक ऐसा समाज होगा जिसमे न कोई वर्ग होंगे न श्रम-विभाजन और जहाँ स्वय श्रम का ही अस्तित्व नही रहेगा। पर समाजशास्त्रीय तर्क के आवेशहीन आलोक मे इस तरह के विश्वास मे और मरणोपरान्त जीवन के विश्वास में कोई अन्तर नहीं, इसे न तो प्रमाणित किया जा सकता है और न ही झुठलाया जा सकता है।

श्रम-विभाजन से मुक्त वर्गहीन समाज की कल्पना को एक हानिरहित कल्पना कहकर छोड़ देना एक गलती होगी क्योकि ऐसे लोग है जो इसमें विश्वास करते हैं और उनके इस विश्वास का उनके कहने, लिखने और करने पर महत्वपूर्ण असर पड़ता है।

जबकि मार्क्स यह मानते थे कि वर्गहीन समाज का आविर्भाव भविष्य मे होगा, हमारे समकालीन मार्क्सवादियो का विश्वास है कि ऐसा समाज या पर्याप्त रूप से इस परिभाषा के निकट समाज अभी भी मौजूद है। अब एक बौद्धिक ज्ञान के रूप मे समाजशास्त्र या तो पूरी तरह तुलनात्मक हो या कुछ भी नही, अर्थात् इसे हर प्रकार के मानव समाज को एक-सी आलोचनात्मक तटस्थता से देखना चाहिए। यही बात अन्त मे समाजशास्त्री का उन लोगो से सघर्ष करायेगी जिनमे अपने या और किसी समाज के प्रति अत्यधिक लगाव होता है।

तीस साल से भारतीय मार्क्सवादियों के मन मे सोवियत सघ के प्रति ऐसा ही लगाव रहा है। उनके लिए सोवियत समाज मे मानवीयता, न्याय तथा वैज्ञानिक प्रगति मूर्तिमान हैं। वहाँ श्रमिक को अंततः अपनी सही कीमत एव गरिमा मिल चुकी है, वह किसी से हीन नही और ऐसे सिद्धान्तो के अनुरूप अपने जीवन-यापन के लिए स्वतन्त्र है जो मानवीय भी है तथा विज्ञानसम्मत भी। भारत मे प्रतिबद्ध साम्यवादियों ने इस कथन की सत्यता मे सदेह नही किया क्योकि उनके पास एक सिद्धान्त था जिसमे यह भविष्यवाणी की गयी थी कि श्रमिक क्रान्ति की सफलता के बाद ऐसे समाज का आविर्भाव होगा। यदि उनके मन में शकाएँ थी भी तो

[27] Ibid., p. 93. [28] Ibid., p. 224.

उन्होने अपने समान विचार वालों मे ही इनको बाँटा। सार्वजनिक रूप से शका प्रकट करने का अर्थ था प्रतिबद्ध साम्यवादी न रह जाना एवं त्रात्स्कीवाद या इससे भी बदतर कुछ बन जाना।

आज भारतीय मार्क्सवादियों के मन में, विशेषकर युवा पीढी के मन मे, सोवियत समाज के प्रति वैसा आकर्षण नही हैं। इनमें से कुछ इसकी व्यवस्था को "सामाजिक साम्राज्यवाद" तक कहने से नही चूकते। इसे विडंबना ही समझना चाहिए कि सोवियत समाज के प्रति सदाशयी लोगों का लगाव ठीक उसी समय से कमजोर होने लगा है जब से सोवियत नेता इसको स्तालिनवादी जुए से मुक्त करने का प्रयत्न करने लगे। कई तरह के तथ्य—जिनकी उपस्थिति के बारे मे शक्की लोग सदैव से आशकित थे—1956 के बाद प्रकाश में आये हैं जिनसे दर्शित होता है कि पुराने नेतृत्व ने क्रान्ति के साथ किस प्रकार विश्वासघात किया। सोवियत समाज से मोहभंग के लिए अनेक तथ्य उत्तरदायी हैं किन्तु इनमे सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य, कम से कम युवा भारतीय मार्क्सवादियो के बीच, अपेक्षाकृत अधिक रोमानी चीनी विकल्प का उदय रहा है।

मानव इतिहास और मानव मनोविज्ञान के अध्येता यह बतायें कि वे लोग जिनका भ्रम एक बार इतने वर्बर तरीके से दूर हुआ है किस प्रकार इतनी जल्दी दूसरा बिल्कुल वैसा ही भ्रमजाल गढ लेते है। मैं उस समसामयिक चीनी समाज पर टिप्पणी नहीं करना चाहता जिसके बारे मे बहुत कम ज्ञात है। पर यह समझ लेने के लिए बहुत कुछ जानने की जरूरत नही कि चीन के बारे मे मार्क्सवादियो का रवैया उस रवैये से अधिक भिन्न नही जैसा पहले सोवियत सघ के प्रति था, जिसके बारे मे हमें कुछ बातें पता हैं।

मेरी समझ में सोवियत या चीनी समाजो पर कालिख पोतने का प्रयत्न भी उतनी ही मूर्खता है जितना यह मानना कि किसी भी अन्य मानव समाज की तुलना मे वे उच्चतर गुणो को साकार करते है। समाजशास्त्री का आग्रह सिर्फ इतना है कि सभी समाज—अमरीकी, बर्तानवी, चीनी, सोवियत तथा भारतीय भी—एक से शीतल तथा स्वच्छ आलोक मे देखे जायें। मार्क्सवादियो ने बर्तानवी साम्राज्यवाद, अमरीकी पूँजीवाद और साथ ही भारतीय सामतवाद के भी अन्त-र्विरोधो का उद्घाटन करके बहुत उत्तम कार्य किया है, किन्तु एक समाज को—वह सोवियत हो या चीनी—उन्होने सदैव विशेष सुविधा प्राप्त अपवाद माना है। समाजशास्त्र का आग्रह है कि सभी समाजों के साथ एकसा व्यवहार किया जाय; उसकी दृष्टि में विशेष सुविधा-सम्पन्न अपवाद की कोई मान्यता नही है।

अनुक्रमणिका